इकाई 1 :- योग की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, उद्देश्य एवं महत्व

1.1 प्रस्तावना

1.2 उद्देश्य

1.3 योग की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

1.3.1 योग का उद्गम

1.3.2 वैदिक काल

1.3.3 उपनिषद काल

1.3.4 दर्शनों का काल

1.3.5 टीकाकाल

1.3.6 भक्ति एवं हठयोग का उत्कर्ष काल

1.3.7 आधुनिक काल

1.4 योग का उद्देश्य

1.5 योग का महत्व

1.5.1 स्वास्थ्य क्षेत्र में

1.5.2 रोगोपचार के क्षेत्र में

1.5.3 खेलकूद के क्षेत्र में

1.5.4 शिक्षा के क्षेत्र में

1.5.5 पारिवारिक महत्व

1.5.6 सामाजिक महत्व

1.5.7 आर्थिक दृष्टि से महत्व

1.5.8 आध्यात्मिक क्षेत्र में महत्व

1.6 सारांश

1.7 शब्दावली

1.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1.10 निबंधात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

भारतीय चिन्तन में अनवरत आत्म ज्ञान तथा सत्य की खोज पर वैचारिक मन्थन परम्परागत होता रहा है। योग विद्या के माध्यम से वास्तव में आत्म तत्व का ज्ञान तथा यथार्थ से साधक अपने चरम लक्ष्य (समाधि) की प्राप्ति करता है। योग वस्तुत: प्राचीनतम आर्ष ग्रन्थों से निकला नवनीत है। हमारे ऋषि-मुनियों ने योग विद्या की विविध शाखाओं को मानव के कल्याण के लिए प्रतिपादित किया है। वेदों, उपनिषदों पुराणों दर्शन तथा टीका कालों में योग का प्रचलन कही न कही अवश्य था। प्रस्तुत इकाई में योग की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि तथा योग के उद्देश्य व महत्व की चर्चा की जा रही है।

1.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई का अध्ययन कर लेने के बाद आप

- योग की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का विश्लेषण कर सकेंगे।
- वैदिक काल में योग के स्वरूप को समझ सकेंगे।
- उपनिषद व दर्शन काल में योग के स्वरूप का विश्लेषण कर सकेंगे।
- आधुनिक काल में योग के स्वरूप का अध्ययन करेंगे।
- योग के महत्व को जान सकेंगे।

1.3 योग की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

1.3.1 योग का उद्गम - योग का उद्गम कहॉं से हुआ यह कहना उचित होगा कि योग की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है, लेकिन यह योग की परम्परा कितनी प्राचीन है \ उसको किसने प्रारम्भ किया \ और कब किया \ इन सभी प्रश्नों का सीधा एक ही उत्तर देना शायद संभव नहीं है। परन्तु प्राचीन साहित्य में मिले उल्लेखों से ज्ञात होता है कि योग परम्परा को किसने प्रारम्भ किया है। जैसे गीता के चतुर्थ अध्याय के आरम्भ में श्रीकृष्ण अर्जुन को उपदेश देते हुए कहते हैं-

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।

विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्।। 4/1

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।

स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप।। 4/2

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।। 4/3

अर्थात् हे अर्जुन, मैंने ही इस योग का उपदेश सृष्टि के आरम्भ में सूर्य देवता को दिया था, इसके पश्चात् सूर्य ने अपने पुत्र मनु को यह योग सिखाया, तथा मनु द्वारा यह योगविद्या इक्ष्वाकु को दी गयी और फिर एक राजर्षियों की लम्बी परम्परा चलती गयी और अन्त में वह योग लुप्त हो गया था जिसको आज मैंने पुनः तुम्हारे सामने प्रस्तुत किया है।

योग परम्परा के सम्बन्ध में इससे यह ज्ञात होता है कि भगवान् ने स्वयं सृष्टि के प्रारम्भ में इस परम्परा को प्रारम्भ किया था। परन्तु इस योग परम्परा के जन्म (उत्पत्ति) के समय को कितना समय या वर्ष हुए हैं, अभी यह कहना संभव नहीं है। हालांकि योग विद्या सृष्टि के प्रारम्भ से ही विद्यमान थी, इस मान्यता को और अधिक बल मिलता है। ऋग्वेद के दसवें मण्डल में कहा गया है-

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।

स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम।।

अर्थात् हिरण्यगर्भ से ही सबसे पहले सृष्टि का निर्माण हुआ। उसी ने पृथ्वी, स्वर्ग आदि सभी को धारण किया। क्योंकि हिरण्यगर्भ को सभी विद्याओं एवं कलाओं का आदि प्रवर्तक माना जाता है। इसीलिए बृहद्योगियाज्ञवल्क्य स्मृति में कहा गया है-

हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः।

अर्थात् 'हिरण्यगर्भ' ही योग के आदि प्रवक्ता है, अन्य कोई नहीं।

इसी प्रकार महाभारत में हिरण्यगर्भ को योग का उत्पत्तिकर्ता बताते हुए कहा गया है-

सांख्यस्य वक्ता कपिलः परमर्षिः स उच्यते।

हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः।। महाभारत 12/349/65

अर्थात् सांख्य के वक्ता परमर्षि कपिल और योग के वक्ता हिरण्यगर्भ हैं। इन विषयों में इनसे प्राचीन व पुरातन वक्ता अन्य कोई नहीं है।

श्रीमद्भागवत् में कहा है-

'इदं हि योगेश्वर योगनैपुणं हिरण्यगर्भो भगवान् जगाद यत्।। 5/19/13

अर्थात् हे योगेश्वर, वैदिक-योग का आदि प्रवक्ता हिरण्यगर्भ परमात्मा ही है।

हठयोग प्रदीपिका मे योग परम्परा की प्राचीनता के संबन्ध में कहा गया है-

श्रीआदिनाथाय नमोस्तु तस्मै येनोपदिष्टा। ह.प्र. 1/1

आदिनाथ अर्थात् भगवान् शिव ही योग के उपदेष्टा है।

प्रिय विद्यार्थियों उपरोक्त पृष्ठों को पढ़ने के बाद आप यह सरलता से समझ चुके होंगे कि हिरण्यगर्भ ही योग के आदि वक्ता है। हिरण्यगर्भ की ही योग का आदि प्रवर्तक माना जाता है। अत: अब निम्न प्रश्न आपके समक्ष अवश्य उत्पन्न हो रहे होगें कि

- योग के आदि वक्ता हिरण्यगर्भ कौन है ?
- हिरण्यगर्भ का अवतरण कब हुआ ?

अगले पृष्ठों का अध्ययन कर लेने के बाद आप उपरोक्त प्रश्नों के उत्तरों को जानने में सक्षम हो जायेंगे।

जब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि हिरण्यगर्भ कौन है तो इस संबध में सात हिरण्यगर्भो का नाम सामने आता है तथा इन सात हिरण्यगर्भो में से कुछ हिरण्यगर्भो के नाम तत्वों के रूप में तथा कुछ ऐतिहासिक रूप में सामने आते है।

- **पहले हिरण्यगर्भ :-** सूर्य (सविता) देवता को पहला हिरण्यगर्भ कहा जाता है। सूर्य तत्व रूप में भी है और सूर्य नाम के एक ऐतिहासिक व्यक्ति भी रहे है। अगर हम सूर्य नामक व्यक्ति को (हिरण्यगर्भ) मानकर योग के आदि प्रवक्ता कहे तो महर्षि सूर्य द्वारा रचित कोई भी साहित्य उपलब्ध नहीं है। भलई स्वर्गीय पण्डित धरराज शास्त्री ने स्मृति संग्रह नामक ग्रन्थ में आचार्य सूर्य द्वारा रचित एक ग्रन्थ 'योगमार्तण्ड' है पर यह ग्रन्थ अभी तक प्रकाशित ही नहीं है। इसलिए बिना ठोस प्रमाण के हम आचार्य सूर्य को योग का आदिवक्ता नहीं कह सकते है। अगर हम सूर्य नामक भौतिक तत्व को लें तो किसी काल में यह स्पष्ट नहीं हो सकता कि सविता देवता अर्थात सूर्य योग के आदि प्रवर्तक है।
- **दूसरे हिरण्यगर्भ :-** दूसरे हिरण्यगर्भ के रूप महत तत्व अर्थात बुद्धि को माना जाता है। भलई स्पष्ट है कि बुद्धि (महत) ही योग की आदि प्रवर्तक रही है। पर यह बुद्धि किस व्यक्ति की थी जिसने योग को प्रतिपादित किया। महाभारत में कहा है

  हिरण्यगर्भो भगवानेष बुद्धिरिति स्मृत

  उपरोक्त श्लोक में हिरण्यगर्भ बुद्धि तत्व को कहा गया है अगर बुद्धि तत्व है तो इस भौतिक तत्व का योग शास्त्र के साथ सम्बन्ध कैसे हो सकता है।
- **तीसरे हिरण्यगर्भ :-** तीसरे हिरण्यगर्भ के बारे में हमें अहिर्बध्न्युसंहिता में वर्णन मिलता है। कहा गया है कि ये एक अति प्राचीन सिद्ध योगी थे जिन्होंने दो योग संहिता की रचना की थी।

क. कर्मयोग संहिता

ख. निरोध संहिता

उपरोक्त 'निरोध संहिता' का नाम पढ़कर यह स्पष्ट हो रहा है, कि महर्षि पतंजलि ने ''चित्त वृत्ति निरोध:'' के लिए कुछ उपाय बताये पर योग सूत्र में महर्षि पतंजलि ने इस संहिता का कही उल्लेख नहीं किया है। अहिर्वध्न्युसंहिता से पहले श्रुति, स्मृति, ब्राह्मण, आरण्यक व पुराणों का काल रहा है और उपरोक्त ग्रन्थों में कही न कही योग का वर्णन मिलता है और अहिर्वध्न्युसंहिता इनके बाद कथित हिरण्यगर्भ को योग का आदि वक्ता मान लेना उचित होगा।

- **चौथे हिरण्यगर्भ :-** चौथे हिरण्यगर्भ का नाम 'योगशिखोपनिषद्' में स्पष्ट रूप से कहा गया है, कि ये हिरण्यगर्भ परम शिव जी का भक्त तथा परम शिष्य था। यदि यह सत्य है तो वह हिरण्यगर्भ निश्चित शैव रहे होंगे यह वात योग शिखोपनिषद में स्पष्ट हो जाती है। अगर इन्होंने कोई योग शास्त्र बनाया है तो उसका कोई प्रमाण मिलता। अत: इन्हें भी योग का आदि वक्ता नहीं मान सकते।
- **पांचवें हिरण्यगर्भ :-** पॉचवे हिरण्यगर्भ उत्तम नामक मन्वन्तर के ऊर्जा ऋषि के पिता के नाम से प्रसिद्ध है। परन्तु वैदिक काल में इनका कोई सूक्त या मन्त्र नहीं है और योग को स्पष्ट करने वाली कोई कृति भी अभी तक प्रकाश में नहीं आई है।
- **छठे हिरण्यगर्भ :-** छठे हिरण्यगर्भ एक ऋषि कहे गये है जिनका अविर्भाव वैदिक काल में हुआ था तथा ये हिरण्यगर्भ प्रजापति के पुत्र बताये जाते है थे और इनके संबध में कहा गया है कि प्रजापति के आठ पुत्र व एक कन्या दक्षिणा नाम की हुई थी। इन्होंने कुल 127 मन्त्र दिये जिसमें ऋग्वेद के 10वें मण्डल में मिलता है। इन

सूक्तों का अध्ययन करे तो ज्ञात होता है कि मन्त्रों में सूक्ष्म रूप से योग को स्पष्ट किया है। अत: योग जो व्यापक है इसके आदिवक्ता इन्हें नहीं माना जा सकता है।

- **सातवें हिरण्यगर्भ :-** सातवें हिरण्यगर्भ प्रजापति परम परमेश्वर ब्रहमा जी को माना है। वस्तुत: ब्रहमा जी चारों वेदों के ज्ञाता कहे गये है। अगर मनु मानव जाति का पिता है तो ब्रहमा जी मानव जाति के पितामह है। ब्रहमसंहिता नामक योग का एक ग्रन्थ है जिसकी रचना ब्रहमा जी ने की है। वेदों में भी कई मन्त्र योग को स्पष्ट करते है और ब्रहमा जी इनके ज्ञाता रहे है अत: इन्हें योग के आदिवक्ता कहा जा सकता है।

मुण्डकोपनिषद कहता है -
ब्रहमा देवानां प्रथम : सम्बभूव विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता मुण्डकोपनिषद 1।1।1

देवताओं में सर्वप्रथम ब्रहमाजी ही हुए है जो कि विश्व के कर्ता है। सृष्टि के आदि कालिक देव होने के कारण तथा चारों वेदों के ज्ञाता होने के कारण हिरण्यगर्भ – (ब्रहमाजी) योगविद्या के आदिवक्ता कहे जा सकते है।

उपरोक्त पृष्ठों का अध्ययन कर लेने के बाद आपको हिरण्यगर्भ नाम के भौतिक तत्व व ऐतिहासिक व्यक्तियों की जानकारी मिल गयी होगी। प्रिय विद्यार्थियों योग के आदि प्रवक्ता हिरण्यगर्भ जो भी ऐतिहासिक ऋषि रहे होगें पर इतना जरूर है कि वो हिरण्यगर्भ वास्तव में दूरदर्शी, वैज्ञानिक, तत्वदर्शी ऋषि होगें जिन्होंने योग जैसी सर्वकल्याणकारी विद्या हमें प्रदान की है तथा हिरण्यगर्भ ने जो योग हमें दिया वह बिखरा पड़ा था महर्षि पतंजलि ने इस बिखरे हुए योग के मोतियों को पिरोकर योग-सूत्र नामक ग्रन्थ की रचना की है। इसलिए महर्षि पतंजलि को भी योग प्रणेता कहा जाना उचित होगा।

योग परम्परागत रूप से चला आ रहा है परन्तु मानव द्वारा इस योगविद्या का उपयोग कब आरम्भ किया, यह प्रश्न अभी भी बना हुआ है। इसलिए अलग-अलग कालों में योग के स्वरूप का अध्ययन करना उचित होगा।

1.3.2 वैदिक काल :- वेद विश्व के प्राचीनतम ग्रन्थों के रूप में जाने जाते हैं। माना जाता है कि प्राचीन समय में ऋषि मुनियों ने अपने योगबल एवं तपोबल के द्वारा ही ईश्वरीय ज्ञान को प्राप्त किया और उन्हें ग्रन्थबद्ध कर वेदों के रूप में प्रस्तुत किया। एक मान्यता यह भी है कि सृष्टि के आदि में वेद विश्व के प्राचीनतम ग्रन्थों के रूप में जाने जाते हैं। साथ ही यह माना जाता है कि प्राचीन समय में ऋषि मुनियों ने अपने योगबल एवं तपोबल के द्वारा ही ईश्वरीय ज्ञान को प्राप्त किया और उन्हें ग्रन्थबद्ध कर वेदों के रूप में प्रस्तुत किया। व एक मान्यता यह भी है कि सृष्टि के आदि में अग्नि, आदित्य, वायु तथा अंगिरा नाम के चार ऋषियों को यह ज्ञान परमात्मा ने उनके अन्तःकरण में प्रकट किया। इसी कारण वेद को अपौरुषेय भी कहा जाता है। इससे योग का सृष्टि के आदि में ही प्रकटीकरण सिद्ध होता है। मुख्य रूप से वेदों की संख्या चार है. ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। तथा वेदों में अनेक स्थानों पर स्पष्ट प्रमाण देखने को मिलते हैं। यद्यपि योग ग्रन्थों की तरह वेदों में योग का प्रत्यक्ष वर्णन तो कम ही उपलब्ध है। किन्तु वेदों में मुख्य रूप से योगविद्या को प्राण विद्याएं, ब्रह्मविद्या आदि नामों से कहा गया है।

वेदों में वर्णित ब्रह्मविद्या को विद्वानों ने योग विद्या का ही रूप माना है। ऋग्वेद में ब्रह्म स्वरूप परमपद को एक ऋचा में इस प्रकार बताया है-

तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।

दिवीय चक्षुराततम्।। 1/11/20

योग साधना का परमलक्ष्य ब्रह्म की प्राप्ति तथा ब्रह्म का साक्षात् कहते हुए, वैदिक संहिताओं ने ब्रह्म को ही सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक, सच्चिदानन्दरूप, अनन्त, निर्विकार आदि माना है। ब्रह्म और योग में साम्यता को ऋग्वेद में बताते हुए कहा है-

ओम् खं ब्रह्म। 40/17

अर्थात् ओंकार स्वरूप ही ब्रह्म है।

वेद में कुछ प्रसंग ऐसे भी मिलते हैं जो शरीर में स्थित चक्र, प्राण शरीर आदि विषय पर प्रकाश डालते हैं। अथर्ववेद में मानव शरीर को आठ चक्र एवं नव द्वारों वाली देवताओं की अयोध्यापुरी कहा गया है-

'अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या'। अथर्व. 10/2/31

इस प्रकार से हम कह सकते हैं कि वेदों में पर्याप्त रूप से योगचर्चा अलग-अलग स्थानों पर की गयी है। अतः हम कह सकते हैं कि जिस प्रकार वेद भारत का प्राचीनतम ज्ञान है, उसी प्रकार योग भी भारत का प्राचीनतम ज्ञान है।

1.3.3 उपनिषद् काल- भारतीय आध्यात्मिक शास्त्रों में उपनिषदों का अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। उपनिषद् भारतीय दर्शन शास्त्र का दर्पण व आध्यात्मिक विज्ञान के प्राणस्वरूप कहलाते हैं। उपनिषद् का अर्थ रहस्य व गुप्त उपदेश कहा गया है। हमारे ऋषि-मुनियों ने उपनिषदों में वर्णित योगविद्या व ब्रह्मविद्या को एक ही प्रकार का रहस्य माना है। उपनिषदों में योग विषयक ज्ञान पर्याप्त मात्रा में देखने को मिलता है। हालांकि योगदर्शन की भांति उपनिषदों में योग ज्ञान क्रमिक एवं सुसम्बद्ध रूप में नहीं मिलता, फिर भी योगदर्शन की भांति उपनिषदों में योग का लक्ष्य आत्मदर्शन व समाधि ही बतलाया गया है।

संख्या की दृष्टि से उपनिषद् अनेक हैं। लेकिन मुख्य उपनिषद्- ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, बृहदारण्यक, छान्दोग्य, श्वेताश्वतरोपनिषद् माने गये हैं। कुछ उपनिषद् ऐसे भी हैं जिनमें केवल योगविषयक ही चर्चा की गयी है, वे इस प्रकार से हैं- अद्वयतारक, अमृतनाद, अमृतबिन्दु, मुक्तिक, तेजबिन्दु, त्रिशिखिब्राह्मण, ध्यान बिन्दु, नादबिन्दु, पाशुपतब्रह्म, ब्रह्मविद्या, वराह, शाण्डिल्य, हंस, योगकुण्डली, योगचूडामणि, योगतत्त्व, योगशिखोपनिषद् आदि। विभिन्न उपनिषदों में योग विषयक की ही चर्चा निम्न प्रकार से देखने को मिलती है-

कठोपनिषद कहता है

यदा प´चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।

बुद्धिश्चन विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्।।

तां योगमिति मन्यते स्थिरामिन्द्रिय धारणाम्।

अप्रमत्तस्तदा भवति योगो ही प्रभवाप्ययौ।। कठो. 2/3/10-11

अर्थात् जब पाँचों इन्द्रियां विषय से हटकर मन के साथ स्थिर हो जाती हैं एवं बुद्धि भी सभी प्रकार की चेष्टाओं से निवृत्त हो जाती है, उसी परमगति की स्थिति को योग कहते हैं।

- त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् में योग दर्शन की तरह ही अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य आदि की चर्चा यम के अन्तर्गत ही की गयी है-

"अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्य दयार्जवम्।

क्षमा धृतिमिताहारं शौचं चैव यमा दशाः।। (33)

- शाण्डिल्योपनिषद् (1/1) में आसनान्यष्टौ कहकर स्वस्तिकासन, पद्मासन, गोमुखासन, वीरासन, सिद्धासन, सिंहासन, भद्रासन तथा मयूरासन की परिभाषाएं दी गई हैं।

- छान्दोग्योपनिषद् में प्राण के महत्त्व को बताते हुए कहा है-

"सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति।"

अर्थात् सभी भूत प्राण से ही उत्पन्न होते हैं तथा प्राणों में ही लीन होते हैं।

- इसी प्रकार जाबालदर्शनोपनिषद् में धारणा के विषय में बताया गया है कि-

"सर्वकारणमव्यक्तं निरुप्यचेतनम्, साक्षादात्मनि सम्पूर्णे धारयेत्प्राणनेन तु।। जाबाल0 (8/9)

अर्थात् ज्ञान प्रसाद के द्वारा विशुद्ध सत्व होकर ध्यान करता हुआ आत्मा को देखे।

उपनिषदों में भी समाधि को योग का अंतिम अंग माना गया है। अतः हम कह सकते हैं कि उपनिषदों के काल में भी योग विद्या के पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं। उपनिषदों का पूर्णतः मनन करने पर ज्ञात होता है कि उपनिषदों में किसी न किसी रूप में योग का समर्थन किया गया है।

1.3.4 दर्शनों का काल - भारतीय दर्शन के न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा, वेदान्त तथा जैन तथा बौद्ध आदि दार्शनिक सम्प्रदायों में योग का व्यापक प्रचार-प्रसार हुआ। महर्षि पतंजलि के योगसूत्र को सूत्रबद्ध शैली में, इसी काल में लिखा गया तथा इस योग सूत्र को योग का प्रथम ग्रन्थ माना जाता है। पतंजलि के ग्रन्थारम्भ में कथन- 'अथ योगानुशासनम्। (यो.सू. 1/1) इसी ओर संकेत करता है। इसकाल में मुक्ति के सर्वोत्तम साधन के रूप में योग की अंतरंग साधना सभी पक्षों ने स्वीकार की है] योगदर्शन में महर्षि पतंजलि ने योग की वैज्ञानिकता व दर्शन को 195 सूत्रों में पिरोकर रखा है। महर्षि पतंजलि ने योग को चित्तवृति निरोध के रूप में परिभाषित किया है। तथा चित्त की पॉच वृतियॉ क्रमश: (प्रमाण,विपर्य, विकल्प निद्रा तथा स्मृति) बताई है और इन वृत्तियों के निरोध के लिए अभ्यास व वैराग्य नाम की दो साधनायें बताई है।

महर्षि पतंजलि ने उच्च कोटि के साधको के लिए अभ्यास व वैराग्य मध्यम के लिए क्रियायोग तथा अधम कोटि के साधको के लिए अष्टांग योग की चर्चा की है।

योग दर्शन के साथ अन्य दर्शनों में भी योग की चर्चा मिलती है। न्याय, वैशेषिक सांख्य मीमांसा, तथा वेदान्त – इन सभी दर्शनों में योग को किसी न किसी रूप में स्वीकार किया गया है। सांख्य तो योग का सैद्धान्तिक पक्ष कहलाता है। इसके बाद चौथी शताब्दी ईसवीं से टीका ग्रन्थों का काल आरम्भ हुआ।

1.3.5 टीकाकाल- चौथी शताब्दी के बाद दसवीं शताब्दी तक व्यासभाष्य तथा टीकाओं का काल जारी रहा। ऐसा माना जाता है कि योगसूत्र पर व्यासभाष्य की रचना चौथी शताब्दी में हुई। इसी काल में विज्ञानभिक्षु, वाचस्पति मिश्र, भोजदेव, नागोजी भट्ट आदि की टीकाएं लिखी गयी। इन टीकाओं में योग के सिद्धान्तों एवं मूलभूत मान्यताओं की विस्तारपूर्वक चर्चा की गयी है। यह समय भारत के इतिहास का उत्कृष्ण समय माना जाता है। इस काल में अनेक ग्रन्थ लिखे गये तथा विविध कला एवं विद्याओं का समुचित विकास हुआ।

1.3.6 भक्ति एवं हठयोग का उत्कर्ष काल:- यह काल लगभग 10वीं शताब्दी से 19 वीं शताब्दी तक माना जाता है। इस काल में भक्ति का विकास हुआ। इस काल के संत कबीर, तुलसी, आदि ने भक्ति की सगुण व निर्गुण मार्ग का प्रचार-प्रसार किया इस काल में नाथ सम्प्रदाय का भी प्रसार हुआ। हठयोग प्रदीपिका, घेरण्ड संहिता आदि की रचना इसी काल में हुई। शारीरिक क्रियाओं द्वारा मन को वश में करना, इस काल में काफी प्रचलित था। तन्त्रग्रन्थों के माध्यम से भी योग का प्रचार-प्रसार साधकों में प्रचलित हुआ। इस काल में भारत पर इस्लाम एवं ईसाई धर्म के आक्रमणों के कारण अनेक आश्रमों, संस्थाओं, ग्रन्थों तथा परम्पराओं का पतन हुआ। समाज में अनेक अंधविश्वास, कुरीतियां तथा गलत धारणाएं, मान्यताएं फैल गयी थी।

1.3.7 आधुनिक काल - महर्षि दयानन्द सरस्वती ने सत्यार्थ प्रकाश तथा ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका के माध्यम से सर्वप्रथम योग की भ्रान्त धारणाओं का खण्डन करके स्पष्ट दिशानिर्देश दिये। इनके पश्चात् स्वामी लक्ष्मणानन्द ने 'ध्यानयोग प्रकाश' में उनकी शिक्षा को प्रस्तुत किया। स्वामी रामकृष्ण परमहंस व उनके शिष्य स्वामी विवेकानन्द ने योग की परम्परा को आगे बढ़ाया। स्वामी शिवानन्द ने दिव्य जीवन संघ तथा स्वामी कुवलयानन्द जी ने कैवल्यधाम नामक संस्थाओं का निर्माण कर अनेकों शिष्यों को योग प्रशिक्षण प्रदान किया जिन्होंने देश-विदेशों में योग विद्या को वैज्ञानिक कसौटियों पर अनुसंधान करके योग को एक नयी दिशा प्रदान की। इसी प्रकार योगी श्यामाचरण लाहिड़ी तथा उनके शिष्य परमहंस योगानन्द द्वारा क्रियायोग विधि के माध्यम से योग का प्रचार-प्रसार किया गया। परमहंस योगानन्द ने योगदा सत्संग सोसाइटी के माध्यम से योग का प्रचार विदेशों तक किया। स्वामी सत्यानन्द सरस्वती ने बिहार योग विद्यालय की स्थापना एवं स्वामी धीरेन्द्र ब्रह्मचारी द्वारा केन्द्रीय विद्यालयों तथा दिल्ली सरकार के विद्यालयों में योग शिक्षकों की नियुक्ति करवाकर सरकारी स्तर पर योग को अध्ययन-अध्यापन हेतु मान्यता दी गई। स्वामी रामदेव ने योग-प्राणायाम का चिकित्सीय पक्ष प्रस्तुत कर, पुनः योग को एक नयी पहचान दी है। श्रीरामशर्मा आचार्य जी ने शान्तिकुँज की स्थापना कर योग के ज्ञान व विज्ञान को ब्रहमवर्चस्व शोध संस्थान में प्रतिपादित किया है। भक्ति योग, कर्म योग, ज्ञानयोग, हठयोग, मन्त्रयोग, की विविध प्रक्रियाओं के साथ-साथ यज्ञ चिकित्सा पर अनेकानेक शोध व अनुसंधान शान्तिकुँज की ब्रहमवर्चस्व व देव संस्कृति विश्वविद्यालय में वर्तमान में हो रहे है। आज योग की विभिन्न विधियों के आधार पर योग की विभिन्न पद्धतियाँ प्रचलित हैं। अब योग विषय को अध्ययन-अध्यापन हेतु विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने स्वीकृति प्रदान कर दी है। अनेक संस्थान व विश्वविद्यालय योगशिक्षा में प्रमाणपत्र, डिप्लोमा, स्नातकोत्तर व पी-एच.डी. आदि पाठ्यक्रमों संचालन कर रहे हैं योग के प्रचार प्रसार में अनवरत चल रहे संस्थान वर्तमान में निम्नवत् है।

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, कैवल्यधाम, बिहार योग भारती, विवेकानन्द योग संस्थान, योग इंस्टीट्यूट सान्ताक्रुज-मुम्बई, मोरारजी देसाई राष्ट्रीय योग संस्थान दिल्ली, अरविन्द आश्रम पाण्डिचेरी, योगदा सत्संग सोसाइटी-रांची, पत´जलि योगपीठ, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, देवसंस्कृति विश्वविद्यालय, उत्तराखण्ड संस्कृत विश्वविद्यालय, गढ़वाल विश्वविद्यालय, कुमांऊ विश्वविद्यालय आदि।

अभ्यास प्रश्न :-

1. सत्य/असत्य बताइये

क. योग के आदि वक्ता हिरण्यगर्भ माने जाते है।

ख. सांख्य दर्शन के वक्ता महर्षि पतंजलि है।

2. बहुविकल्पीय प्रश्न

क. प्राचीन समय में कितने हिरण्यगर्भ के नामों की चर्चा हुई है।

अ. 4 ब. 6
स. 7 द. 9

ख. किस उपनिषद में चौथे हिरण्यगर्भ का नाम स्पष्ट होता है।

अ. योगशिखोषनिषद ब. तेजबिन्दु उपनिषद

स. अमृतनादोपनिषद द. कठोपनिषद

ग. चित्त की कितनी वृत्तियॉ है।

अ. 4 ब. 5

स. 6 द. 8

घ. श्यामाचरण लाहिड़ी के शिष्य कौन है ?

अ. सत्यानन्द सरस्वती ब. परमहंस योगानन्द

स. स्वामी शिवानन्द द. बाबा रामदेव

1.4 योग का उद्देश्य

सभी भारतीय दर्शनों के मुख्य प्रतिपाद्य विषय के रूप में- हेय, हेयहेतु, हान तथा हानोपाय- इस चतुर्व्यूहवाद का ही वर्णन किया गया है। योगदर्शन का भी यही अभिमत है। अतः अन्य दर्शनों की भाँति योगदर्शन का भी मुख्य उद्देश्य दुःख-निवृत्ति ही है। पतंजलि अपने योगसूत्र के आरम्भ में ही योग की पूर्णता की अवस्था का वर्णन करते हुए कहते हैं- 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' अर्थात् योग सिद्ध हो जाने पर द्रष्टा (आत्मा) अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित हो जाता है। यह स्थिति दुःखों की सम्पूर्ण निवृत्ति के उपरान्त ही प्राप्त होती है। दुःखों का कारण चित्त की विभिन्न वृत्तियाँ ही हैं, जिनके कारण चित्त अस्वाभाविक अवस्था में बना रहता है तथा यथार्थ स्वरूप का ज्ञान कराने में असमर्थ रहता है।

चित्तवृत्तियों के मूल में अविद्यादि क्लेश उपस्थित होते हैं, जिसके फलस्वरूप चित्त में विभिन्न वृत्तियाँ बनी रहती हैं। इनके निवारण के उपायों के रूप में पतंजलि अभ्यास-वैराग्य, ईश्वर-प्रणिधान तथा क्रियायोग व अष्टांग योग का मुख्य रूप से वर्णन करते हैं। क्रियायोग का फल बताते हुए वे कहते हैं-

'समाधि भावनार्थःक्लेशतनूकरणार्थश्च'।। योगसूत्र 2/2

अर्थात् क्लेशों को कमजोर करना ही क्रियायोग का मुख्य उद्देश्य है, जिससे समाधि की स्थिति प्राप्त हो सके। समाधि की उच्चतम स्थिति असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त हो जाने पर ही चित्त से क्लेशों की पूर्णरूप से निवृत्ति होती है। क्योंकि आगामी जन्म के कारणभूत चित्त में पूर्वजन्मों के संस्कार दग्धबीज होकर नष्ट हो जाते हैं। चित्त अपने मूलकारण प्रकृति में लीन हो जाता है तथा पुरुष के लिए कैवल्य का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। तभी आत्मा अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होता है। उसी स्थिति को कैवल्य के नाम से जाना जाता है। आधुनिक समय में योग का उद्देश्य स्वयं स्वस्थ रहना, दूसरों को स्वास्थ्यलाभ कराना, धन-अर्जित करना, योग गुरु के नाम से यश प्राप्त करना आदि हो गए हैं किन्तु ये सभी गौण हैं। योग का मुख्य उद्देश्य स्वस्थ होना है। स्वस्थ शब्द के अर्थ पर विचार किया जाए तो स्वस्थ वही है जो स्व में स्थित है। आयुर्वेद शास्त्र का मन्तव्य भी यही है। पतंजलि भी जहाँ स्वरूपावस्थिति की बात करते हैं। तो उनका तात्पर्य भी स्व में स्थित होने से ही है। योग की भाषा में इसी को कैवल्य कहा जाता है। इस दृष्टि से यदि देखा जाये तो योग का मुख्य उद्देश्य कैवल्य प्राप्त करना ही है।

वास्तव में योग की वर्तमान में स्वास्थ्य लाभ के परिपेक्ष्य में लिया जाता है पर ऐसा नहीं है कि रोगी व्यक्ति को ही योगाभ्यास करना चाहिए योग तो स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य की रक्षा करता है और बिमार व्यक्ति के रोग को दूर करता है।

जिज्ञासु पाठक योग के उद्देश्य को निम्न चित्र के आधार पर समझ सकते है।

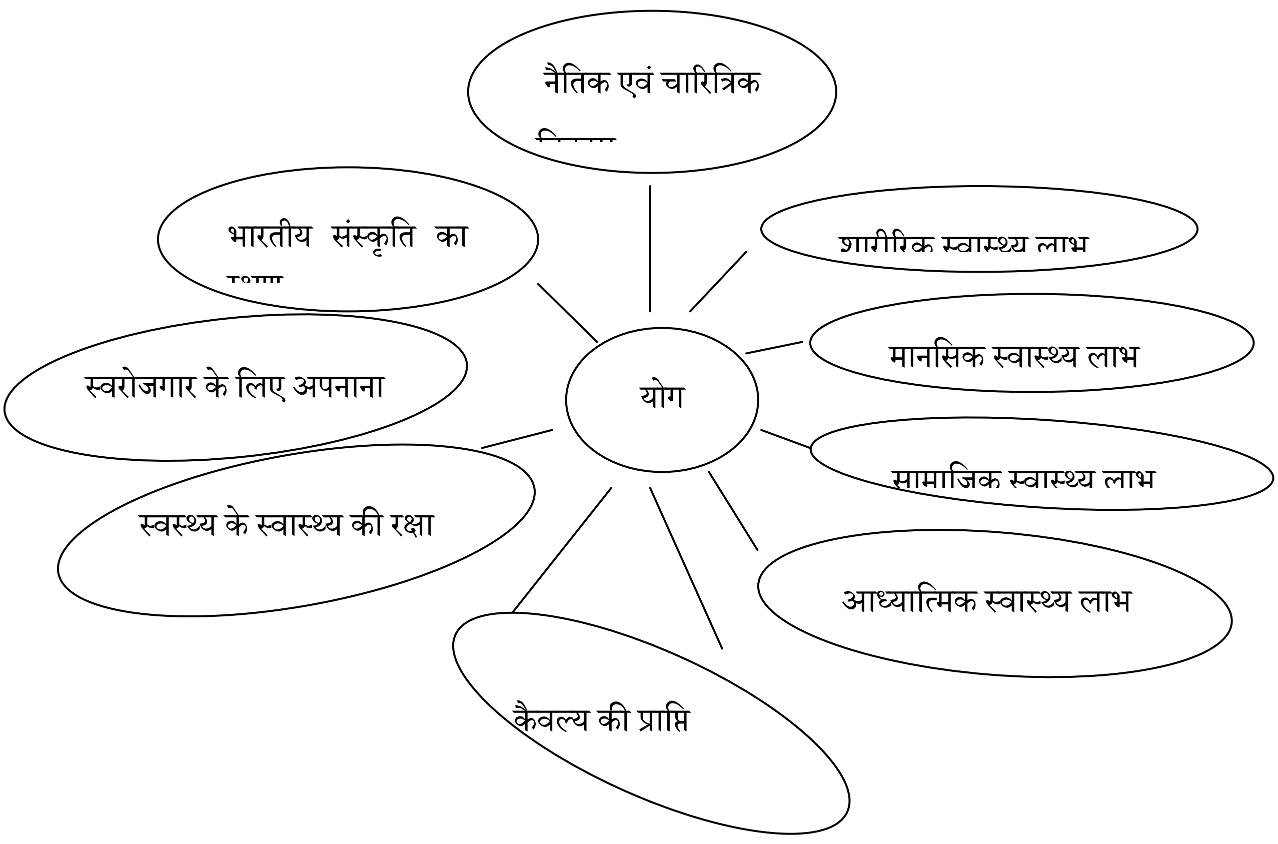

1.5 योग का महत्व

प्राचीन काल में योग विद्या संन्यासियों या मोक्षमार्ग के साधकों के लिए ही समझी जाती थी तथा योगाभ्यास के लिए साधक को घर को त्याग कर वन में जाकर एकांत में वास करना होता था। इसी कारण योगसाधना को बहुत ही दुर्लभ माना जाता था। जिससे लोगों में यह धारणा बन गयी थी कि यह योग सामाजिक व्यक्तियों के लिए नहीं है। जिसके फलस्वरूप यह योगविद्या धीरे-धीरे लुप्त होती गयी। परन्तु पिछले कुछ वर्षों से समाज में बढ़ते तनाव, चिन्ता, प्रतिस्पर्धा से ग्रस्त लोगों को इस गोपनीय योग से अनेकों लाभ प्राप्त हुए और योग विद्या एकबार पुनः समाज में लोकप्रिय होती गयी। आज भारत में ही नहीं बल्कि पूरे विश्वभर में योगविद्या पर अनेक शोध कार्य किये जा रहे हैं और इससे लाभ प्राप्त हो रहे हैं। योग के इस प्रचार-प्रसार में विशेष बात यह रही कि यहां यह योग जितना मोक्षमार्ग के पथिक के लिये उपयोगी था, उतना ही साधारण मनुष्य के लिए भी महत्व रखता है। आज के आधुनिक एवं विकास के इस युग में योग अनेक क्षेत्रों में विशेष महत्व रखता है जिसका उल्लेख निम्नलिखित विवरण से स्पष्ट किया जा रहा है-

1.5.1 स्वास्थ्य क्षेत्र में- वर्तमान समय में भारत ही नहीं अपितु विदेशों में भी योग का स्वास्थ्य के क्षेत्र में उपयोग किया जा रहा है। स्वास्थ्य के क्षेत्र में योगाभ्यास पर हुए अनेक शोधों से आये सकारात्मक परिणामों से इस योग विद्या को पुनः एक नयी पहचान मिल चुकी है आज विश्व स्वास्थ्य संगठन भी इस बात को मान चुका है, कि वर्तमान में तेजी से फैल रहे मनोदैहिक रोगों में योगाभ्यास विशेष रूप से कारगर है। विश्व स्वास्थ्य संगठन का मानना है कि योग एक सुव्यवस्थित व वैज्ञानिक जीवन शैली है जिसे अपना कर अनेक प्रकार के प्राणघातक रोगों से बचा जा सकता है।

योगाभ्यास के अन्तर्गत आने वाले षट्कर्मों से व्यक्ति के शरीर में संचित विषैले पदार्थों का आसानी से निष्कासन हो जाता है। वहीं योगासन के अभ्यास से शरीर में लचीलापन बढ़ता है व नस-नाड़ियों में रक्त का संचार सुचारु होता है। प्राणायामों के करने से व्यक्ति के शरीर में प्राणिक शक्ति की वृद्धि होती है, साथ -साथ शरीर से पूर्ण कार्बनडाई-आक्साईड का निष्कासन होता है। इसके अतिरिक्त प्राणायाम के अभ्यास से मन में स्थिरता आती होती है, जिससे साधक को ध्यान करने में सहायता मिलती है । और जिससे साधक स्वस्थ मन व तन को प्राप्त कर सकता है।

1.5.2 रोगोपचार के क्षेत्र में- निःसंदेह आज के इस प्रतिस्पर्धा व विलासिता के युग में अनेक रोगों का जन्म हुआ है जिन पर योगाभ्यास से विशेष लाभ देखने को मिला है। सम्भवतः रोगों पर योग के इस सकारात्मक प्रभाव के कारण ही योग को पुनः प्रचार-प्रसार मिला। रोगों की चिकित्सा में योग के इस योगदान में विशेष बात यह है कि जहाँ एक ओर रोगों की एलोपैथी चिकित्सा में कई प्रकार के दुष्प्रभाव देखने को मिलते हैं, वहीं योग चिकित्सा से रोगी बिना किसी दुष्प्रभाव के लाभ प्राप्त करता है।

आज देश ही नहीं बल्कि विदेशों में अनेकों स्वास्थ्य से सम्बन्धित संस्थाएं योग चिकित्सा पर तरह-तरह के शोध कार्य कर रहीं हैं। आज योग द्वारा दमा, उच्च व निम्नरक्तचाप, हृदय रोग, संधिवात, मधुमेह, मोटापा, चिन्ता, अवसाद आदि रोगों का प्रभावी रूप से उपचार किया जा रहा है तथा अनेकों लोग इससे लाभान्वित हो रहे हैं। इन्टरनेट पर विविध रोगों पर हो रहे शोध व अनुसंधानों का अवलोकन किया जा सकता है।

1.5.3 खेलकूद के क्षेत्र में - योग अभ्यास का खेल कूद के क्षेत्र में भी अपना एक विशेष महत्व है। विभिन्न प्रकार के खेलों में खिलाड़ी अपनी कुशलता, क्षमता व योग्यता आदि बढ़ाने के लिए योग अभ्यास की सहायता लेते हैं। योगाभ्यास से जहाँ खिलाड़ी के तनाव के स्तर में कमी आती है, वहीं दूसरी ओर इससे खिलाड़ियों की एकाग्रता व बुद्धि तथा शारीरिक क्षमता भी बढ़ती है। क्रिकेट के खिलाड़ी बल्लेबाजी में एकाग्रता लाने, शरीर में लचीलापन बढ़ाने तथा शरीर की क्षमता

बढ़ाने के लिए रोजाना योगाभ्यास को समय देते हैं। यहाँ तक कि अब तो खिलाड़ियों के लिए सरकारी व्यय पर खेल-कूद में योग के प्रभावों पर भी अनेकों शोध हो चुके हैं जो कि खेल-कूद के क्षेत्र में योग के महत्त्व को सिद्ध करते हैं।

1.5.4 शिक्षा के क्षेत्र में - शिक्षा के क्षेत्र में बच्चों पर बढ़ते तनाव को योगाभ्यास से कम किया जा रहा है। योगाभ्यास से बच्चों को शारीरिक ही नहीं बल्कि मानसिक रूप से भी मजबूत बनाया जा रहा है। स्कूल व महाविद्यालयों में शारीरिक शिक्षा विषय में योग पढ़ाया जा रहा है। वहीं योग-ध्यान के अभ्यास द्वारा विद्यार्थियों में बढ़ते मानसिक तनाव को कम किया जा रहा है। साथ ही साथ इस अभ्यास से विद्यार्थियों की एकाग्रता व स्मृति शक्ति पर भी विशेष सकारात्मक प्रभाव देखे जा रहे हैं। आज कम्प्यूटर, मनोविज्ञान, प्रबन्धन विज्ञान के छात्र भी योग द्वारा तनाव पर नियन्त्रण करते हुए देखे जा सकते हैं।

शिक्षा के क्षेत्र में योग के बढ़ते प्रचलन का अन्य कारण इसका नैतिक जीवन पर सकारात्मक प्रभाव है, आजकल बच्चों में गिरते नैतिक मूल्यों को पुनः स्थापित करने के लिए योग का सहारा लिया जा रहा है। योग के अन्तर्गत आने वाले यम में दूसरों के साथ हमारे व्यवहार व कर्तव्य को सिखाया जाता है, वहीं नियम के अन्तर्गत बच्चों को स्वयं के अन्दर अनुशासन स्थापित करना सिखाया जा रहा है। विश्वभर के विद्वानों ने इस बात को माना है, कि योग के अभ्यास से शारीरिक व मानसिक ही नहीं बल्कि नैतिक विकास होता है। इसी कारण आज सरकारी व गैरसरकारी स्तर पर स्कूलों में योग विषय को अनिवार्य कर दिया गया है।

1.5.5 पारिवारिक महत्व- व्यक्ति का परिवार समाज की एक महत्त्वपूर्ण इकाई होती है तथा पारिवारिक संस्था व्यक्ति के विकास की नींव होती है। योगाभ्यास से आये अनेकों सकारात्मक परिणामों से यह भी ज्ञात हुआ है, कि यह विद्या व्यक्ति में पारिवारिक मूल्यों एवं मान्यताओं को भी जागृत करती है। योग के अभ्यास व इसके दर्शन से व्यक्ति में प्रेम, आत्मीयता, अपनत्व एवं सदाचार जैसे गुणों का विकास होता है और निःसंदेह ये गुण एक स्वस्थ परिवार की आधारशिला होते हैं।

वर्तमान में घटती संयुक्त परिवार प्रथा व बढ़ती एकल परिवार प्रथा ने अनेकों प्रकार की समस्याओं को जन्म दिया है आज परिवार का सदस्य संवेदनहीन, असहनशील, क्रोधी, स्वार्थी होता जा रहा है जिससे परिवार की धुरी धीरे-धीरे कमजोर होती जा रही है। लेकिन योगाभ्यास से इस प्रकार की दुष्प्रवृत्तियां स्वतः ही समाप्त हो जाती हैं। भारतीय शास्त्रों में तो गृहस्थ जीवन को भी गृहस्थयोग की संज्ञा देकर जीवन में इसका विशेष महत्त्व बतलाया है। योग विद्या में निर्देशित अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय व ईश्वर प्रणिधान पारिवारिक वातावरण को सुसंस्कारित और समृद्ध बनाते हैं।

1.5.6 सामाजिक महत्व - इस बात में किसी प्रकार का संदेह नहीं है कि एक स्वस्थ नागरिक से स्वस्थ परिवार बनता है तथा एक स्वस्थ व संस्कारित परिवार से एक आदर्श समाज की स्थापना होती है। इसीलिए समाजोत्थान में योग अभ्यास का सीधा प्रभाव देखा जा सकता है। सामाजिक गतिविधियाँ व्यक्ति के शारीरिक, मानसिक दोनों पक्षों को प्रभावित करती हैं। सामान्यतः आज प्रतिस्पर्धा के इस युग में व्यक्ति विशेष पर सामाजिक गतिविधियों का नकारात्मक प्रभाव पड़ रहा है। व्यक्ति धन कमाने व विलासिता के साधनों को संजोने के लिए हिंसक, आतंकी, अविश्वास व भ्रष्टाचार की प्रवृत्ति को बिना किसी हिचकिचाहट के अपना रहा है। ऐसे यौगिक अभ्यास जैसे- कर्मयोग, हठयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग, अष्टांग योग आदि साधन समाज को नयी रचनात्मक व शान्तिदायक दिशा प्रदान कर रहे हैं। कर्मयोग का सिद्धान्त तो पूर्ण सामाजिकता का ही आधार है ''सभी सुखी हों, सभी निरोगी हों'' इसी उद्देश्य के साथ योग समाज को एक नयी दिशा प्रदान कर रहा है।

1.5.7 आर्थिक दृष्टि से महत्व- प्रत्यक्ष रूप से देखने पर योग का आर्थिक दृष्टि से महत्व गौण नजर आता हो लेकिन सूक्ष्म रूप से देखने पर ज्ञात होता है कि मानव जीवन में आर्थिक स्तर और योग विद्या का सीधा संबन्ध है। शास्त्रों में वर्णित ''पहला सुख निरोगी काया, बाद में इसके धन और माया'' के आधारपर योग विशेषज्ञों ने पहला धन निरोगी शरीर को माना

है। एक स्वस्थ व्यक्ति जहाँ अपने आय के साधनों का विकास कर सकता है, वहीं अधिक परिश्रम से व्यक्ति अपनी प्रतिव्यक्ति आय को भी बढ़ा सकता है। जबकि दूसरी तरफ शरीर में किसी प्रकार का रोग न होने के कारण व्यक्ति का औषधियों व उपचार पर होने वाला व्यय भी नहीं होता है। योगाभ्यास से व्यक्ति में एकाग्रता की वृद्धि होने के साथ-साथ उसकी कार्यक्षमता का भी विकास होता है। आजकल तो योगाभ्यास के अन्तर्गत आने वाले साधन आसन, प्राणायाम, ध्यान द्वारा बडे-बड़े उद्योगपति व फिल्म जगत के प्रसिद्ध लोग अपनी कार्य क्षमता को बढ़ाते हुए देखे जा सकते हैं। योग जहाँ एक ओर इस प्रकार से आर्थिक दृष्टि से अपना एक विशेष महत्व रखता है, वहीं दूसरी ओर योग क्षेत्र में काम करने वाले योग प्रशिक्षक भी योग विद्या से धन लाभ अर्जित कर रहे हैं। आज देश ही नहीं विदेशों में भी अनेकों योगकेन्द्र चल रहे हैं जिनमें शुल्क लेकर योग सिखाया जा रहा है। साथ ही साथ प्रत्येक वर्ष विदेशों से सैकड़ों सैलानी भारत आकर योग प्रशिक्षण प्राप्त करते हैं जिससे आर्थिक जगत् को विशेष लाभ पहुँच रहा है।

1.5.8 आध्यात्मिक क्षेत्र में महत्व - प्राचीन काल से ही योग विद्या का प्रयोग आध्यात्मिक विकास के लिए किया जाता रहा है। योग का एकमात्र उद्देश्य आत्मा-परमात्मा के मिलन द्वारा समाधि की अवस्था को प्राप्त करना है। इसी अर्थ को जानकर कई साधक योगसाधना द्वारा मोक्ष, मुक्ति के मार्ग को प्राप्त करते हैं। योग के अन्तर्गत यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि को साधक चरणबद्ध तरीके से पार करता हुआ कैवल्य को प्राप्त कर जाता है।

प्रिय विद्यार्थियों आप समझ गये होगें कि योग वास्तव में एक वैज्ञानिक जीवन शैली है, जिसका हमारे जीवन के प्रत्येक पक्ष पर गहराई से प्रभाव पड़ता है। इसी कारण से योग विद्या सीमित तौर पर संन्यासियों की या योगियों की विद्या न रह कर, पूरे समाज तथा प्रत्येक व्यक्ति के लिए आदर्श पद्धति बन चुकी है। आज योग एक सुव्यवस्थित व वैज्ञानिक जीवन शैली के रूप में प्रमाणित हो चुका है। प्रत्येक मनुष्य अपने स्वास्थ्य को बनाये रखने के लिए, रोगों के उपचार हेतु, अपनी कार्यक्षमता को बढ़ाने, तनाव-प्रबन्धन, मनोदैहिक रोगों के उपचार आदि में योग पद्धति को अपनाते हुए देखा जा रहा है। प्रतिदिन टेलीविजन कार्यक्रमों में बढ़ती योग की मांग इस बात को प्रमाणित करती है कि योग वर्तमान जीवन में एक अभिन्न अंग बन चुका है। जिसका कोई दूसरा पर्याय नहीं है। योग की लोकप्रियता और महत्व के विषय में हजारों वर्ष पूर्व ही योगशिखोपनिषद् में कहा गया है-

योगात्परतरंपुण्यं योगात्परतरं शिवम्।
योगात्परतरंशक्तिं योगात्परतरं न हि।।

अर्थात् योग के समान कोई पुण्य नहीं, योग के समान कोई कल्याणकारी नहीं, योग के समान कोई शक्ति नहीं और योग से बढ़कर कुछ भी नहीं है। वास्तव में योग ही जीवन का सबसे बड़ा आश्रय है।

1.6 सारांश

प्रस्तुत इकाई को पढ़ने के बाद आप समझ गये होंगे कि योग के आदि प्रवर्तक हिरण्यगर्भ रहे है भलई यह स्पष्ट नहीं है कि हिरण्यगर्भ कौन थे पर योग जैसी विद्या जिस महर्षि ने दी होगी वह दूरदर्शी ऋषि ने वर्तमान समसामयिक संकटों के निवारण में हमें एक योग रूपी उपहार दिया है। जिसके अनेकानेक महत्वों को आत्मसात् कर सहदय जिज्ञासु पाठक एवं जन सामान्य समाज में इस परम्परागत विद्या को फैलाकर आनन्द (कैवल्य) की प्राप्ति भी कर सकता है। चूँकि योग की अन्तिम पराकाष्ठा मोक्ष की प्राप्ति ही है। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप योग की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि उद्देश्य व महत्व को सहज रूप से समझकर इस प्राचीनतम विद्या के फलों से स्वयं व समाज में इस विद्या की सही-सही अनुभूति को अभिव्यक्त कर सकेंगे।

1.7 शब्दावली

आर्ष :- प्राचीनतम प्रमाणिक ग्रन्थों के लिए प्रयुक्त शब्द
नवनीत :- मक्खन
पुरातन :- प्राचीन, पुराना
हठ-प्रदीपिका – हठयोग का एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ जिसे स्वात्माराम जी ने लिखा है।
तपोबल- तप से प्राप्त बल
सविता – सूर्य देवता
महत तत्व – बुद्धि
आरण्यक - जंगलों में लिखे साहित्य
काया – शरीर
घेरण्ड संहिता – हठयोग की एक प्राचीनतम पुस्तक जिसे महर्षि घेरण्ड ने प्रतिपादित किया।

1.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. क. सत्य ख. असत्य

2. क. स ख. अ
ग. ब घ. ब

1.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. योगांक – गीताप्रेस गोरखपुर

2. स्वामी विज्ञानानन्द सरस्वती – योग विज्ञान (सं-2007) योग निकेतन ट्रस्ट, ऋषिकेश

3. श्रीरामशर्मा आचार्य – साधना पद्धतियों का ज्ञान और विज्ञान (सं0-1998) अखण्ड ज्योति संस्थान मथुरा

4. डॉ0 कामाख्या कुमार – योग महाविज्ञान (सं0 2007) स्टैण्डर्ड पब्लिशर्स, नई दिल्ली

10. निबंधात्मक प्रश्न

1. योग के इतिहास पर प्रकाश डालिये ?

2. योग के महत्व को विस्तार से समझाइये ?

3. वैदिक काल तथा उपनिषदों के काल में योग के विकास की तुलनात्मक व्याख्या कीजिए।

4. आधुनिक काल में योग के विकास क्रम की सुदीर्घ व्याख्या कीजिए।

इकाई 2- योग का अर्थ व परिभाषायें

2.1 प्रस्तावना

2.2 उद्देश्य

2.3 योग शब्द का अर्थ

2.4 योग की परिभाषाएं

2.4.1 वेदों के अनुसार

2.4.2 उपनिषदों के अनुसार

2.4.3 पुराणों के अनुसार

2.4.4 योग सूत्र के अनुसार

2.4.5 भगवत गीता के अनुसार

2.4.6 योग वाशिष्ठ के अनुसार

2.4.7 जैन दर्शन के अनुसार

2.4.8 बौद्ध दर्शन के अनुसार

2.4.9 योग की अन्य परिभाषायें

2.5 सारांश

2.6 शब्दावली

2.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

2.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

2.9 निबंधात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

पिछली इकाई में आपने योग की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, उद्देश्य तथा योग के महत्व का अध्ययन किया। प्रस्तुत इकाई में योग शब्द के अर्थ को आप संस्कृत व्याकरण के अनुसार समझ सकेंगे तथा योग की विविध परिभाषाओं का भी अध्ययन करेंगे। योग वस्तुत: वास्तव में बड़ा गूढ शब्द है। कुछ लोग योग को आसनों व प्राणायाम के परिपेक्ष्य में लेते है वास्तव में ऐसा नहीं है आसन व प्राणायाम योग के अंग है। प्रस्तुत इकाई में आप योग शब्द के अर्थ व परिभाषाओं को प्राचीन आर्ष ग्रन्थों तथा विविध विद्वानों के मतानुसार योग का सम्यक विश्लेषण कर सकेंगे।

2.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन कर लेने के बाद आप

- योग के वास्तविक अर्थ को जान सकेंगे।
- समझा सकेगें कि वेदों में योग का क्या स्वरूप है।
- उपनिषदों में वर्णित योग को स्वरूप का विश्लेषण कर सकेंगे।
- पुराणों के अनुसार योग को परिभाषित कर सकेगें।
- महर्षि पतंजलि द्वारा प्रतिपादित योग की परिभाषा का अवलोकन करेंगे।
- जैन व बौद्ध दर्शन के अनुसार योग के स्वरूप का तुलनात्मक अध्ययन कर सकेंगे।
- योग के विषय में विविध चिन्तकों, विद्वानों तथा अनेकानेक ग्रन्थों की परिभाषाओं को श्रेणीबद्ध कर सकेगें।

2.3 योग शब्द का अर्थ

प्रिय विद्यार्थियों योग के नाम से आप सब परिचित होंगे अक्सर देखा गया है कि अनेकानेक विद्यार्थियों तथा आम लोगों के मन में निम्न प्रश्नों को जानने की उत्सुकता रहती है।

- योग क्या है ?
- योग शब्द संस्कृत व्याकरण के किस धातु से बना है ?
- योग की परिभाषाएं वेदों में क्या है ?
- योग को उपनिषदों व पुराणों में कैसे परिभाषित किया है ?
- क्या गीता में भी योग का वर्णन मिलता है ?
- योग दर्शन में योग का क्या स्वरूप है ?
- क्या जैन व बौद्ध दर्शन में भी योग का वर्णन है ?

अगले पृष्ठों को अध्ययन कर लेने के बाद आप निश्चित उपरोक्त प्रश्नों के उत्तर जान लेने में सक्षम हो जायेगे।

योग एक गूढ एवं जटिल शब्द है। संस्कृत व्याकरण का अगर अवलोकन करे तो योग शब्द युज् समाधौ धातु से बना है। पाणिनी के अनुसार तीन युज धातु है।

क. युज् समाधों – दिवादिगणीय

दिवादिगणीय युज् धातु का अर्थ है समाधि। युज् का अर्थ है जुड़ना अर्थात समाधि की प्राप्ति के लिए जो भी साधनायें बताई गयी है साधक उन साधनाओं की ओर जुड़े। चूँकि पहले की इकाई को पढ़ने से यह स्पष्ट है कि योग बढ़ा व्यापक शब्द है। योग की अनेकानेक साधनाओं की चर्चा प्राचीनतम आर्ष ग्रन्थों में मिलती है। जो भी साधनायें समाधि की सिद्धि करें साधक उन्हीं साधनाओं को आत्मसात् करें यह योग का पहला अर्थ है।

ख. युजिर योगे – रूधादिगणीय

रूधादिगणीय युज धातु का अर्थ है, जोड़ना, मिलाना, मेल करना।

सृष्टि की समस्त वस्तुए जुड़ कर ही बनी हैं जितने भी भौतिक पदार्थ हमें दिखाई देते है वो सब जुड़कर (योग) के प्रतिफल है। गणितशास्त्र का अध्ययन करे तो पूरी गिनती जुड़कर ही होती है जैसे

1+1 = 2 9+9 = 18

अगर आपने रसायन शास्त्र का अध्ययन किया होगा तो पानी का सूत्र है H_2O अर्थात 2 अणु हाइड्रोजन व एक अणु ऑक्सीजन के मिलकर जल (H_2O) बनाती है यह योग का प्रतिफल है।

ग. युज् संयमने – चुरादिगणीय

चुरादिगणीय युज् धातु का अर्थ स्पष्ट है – युज् अर्थात जुड़ना संयम अर्थात मन को वश में करने की विद्या। मन को वश में करने की विद्या वास्तव में योग ही है और साधक को चाहिए कि वह उस विद्या को आत्मसात् करे। महर्षि पतंजलि ने धारणा, ध्यान व समाधि के योग को संयम कहा है।

वास्तव में संस्कृत व्याकरण के आधार पर 'योग' शब्द की व्युत्पत्ति निम्न प्रकार से की जा सकती है-

1. युज्यते एतद् इति योगः - इस व्युत्पत्ति के अनुसार कर्मकारक में योग शब्द का अर्थ चित्त की वह अवस्था है जब चित्त की समस्त वृत्तियों में एकाग्रता आ जाती है। यहाँ पर 'योग' शब्द का अर्थ उद्देश्य में प्रयोग हुआ है।

2. युज्यते अनेन इति योगः - इस व्युत्पत्ति के अनुसार करण कारक में योग शब्द का अर्थ वह साधन है जिससे समस्त चित्तवृत्तियों में एकाग्रता लाई जाती है। यहाँ 'योग' शब्द साधनार्थ प्रयुक्त हुआ है। इसी आधार पर योग के विभिन्न साधनों को जैसे हठ, मंत्र, भक्ति, ज्ञान, कर्म आदि को हठयोग, मंत्रयोग, भक्ति योग, ज्ञानयोग, कर्मयोग आदि के नाम से पुकारा जाता है।

युज्यतेऽस्मिन् इति योगः - इस व्युत्पत्ति के अनुसार योग शब्द का अर्थ वह स्थान है जहाँ चित्त की वृत्तियों की एकाग्रता उत्पन्न की जाती है। अतः यहाँ पर अधिकरण कारक की प्रधानता है। योग क्या है इस विषय पर स्वामी विज्ञानानन्द सरस्वती ने योग विज्ञान नामक पुस्तक में योग की सुदीर्ध व्याख्या इस प्रकार की है।

1. यम नियम आदि योग के अंगों का निष्ठापूर्वक सतत अभ्यास करते हुए अन्तिम असम्प्रज्ञात समाधि के द्वारा विशुद्ध स्वरूपास्वरूपावस्थिति को प्राप्त कर लेना योग है।

2. योग समाधि की पराकाष्ठा पर पहुँचकर आत्मदर्शन पूर्वक स्वरूपस्थिति यानी आत्मस्थिति अवस्था को प्राप्त कर लेना योग है।

3. ध्यान परायण तथा समाधिनिष्ठ होकर स्थूल और सूक्ष्म अतीन्द्रिय तत्वों का योग दृष्टि के द्वारा प्रत्यक्ष दर्शन करते हुए अन्त में चैतन्य स्वरूप आत्मा के स्तर तक लेना योग है।

4. आध्यात्मिक योग-साधना के द्वारा दैहिक तथा आत्मिक सर्वागीण विकास धारा के साथ-साथ आत्मस्फूर्ति को पा लेना, यही योग हैं।

5. योगनिष्ठ होकर योगी, दीर्घकाल तक योगाभ्यास करता हुआ समाधिलब्धं प्रत्यक्षात्मक आत्मज्ञान के परिणाम स्वरूप पूर्ण रूपेण ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त करके जीते जी जीवन्मुक्त बन जाना ही योग है।

6. भू-लोक, अन्तरिक्ष लोक द्यु-लोक में स्थित निखिल तत्व समूहों को योगदृष्टि यानी समाधि दृष्टि के द्वारा प्रत्यक्ष रूप में साक्षात्कार करते हुए, उन तत्वों को लॉघते हुए अतिक्रमण करते हुए सर्वतो भवेन ब्रह्मस्वरूप में स्थिति प्राप्त कर लेना ही योग है।

2.4 योग की परिभाषाएँ

भारतीय चिन्तन पद्धति व दर्शन में योग विद्या का स्थान सर्वोपरि एवं अति महत्वपूर्ण तथा विशिष्ट रहा है। भारतीय ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर योग विद्या से सम्बन्धित ज्ञान भरा पड़ा है। वेदों उपनिषदों, पुराणों, गीता आदि प्राचीन व प्रमाणिक ग्रन्थों में योग शब्द वर्णित है। योग की विविध परिभाषाऐं का आपके अवलकोनार्थ प्रस्तुत है।

2.4.1 वेदों के अनुसार :- वेदों में ज्ञान व विज्ञान की धाराये विद्यमान है वेदों का वास्तविक उद्देश्य ज्ञान प्राप्त करना तथा आध्यात्मिक उन्नति करना है। योग को स्पष्ट करते हुए ऋग्वेद में कहा है।

यस्मादृते न सिध्यति यज्ञो विपश्चितश्चन्।

स धीनां योगमिनवति योगमिन्विता।। ऋग्वेद 1/18/7)

अर्थात विद्वानों का कोई भी कर्म बिना योग के पूर्ण अर्थात सिद्ध नहीं होता।

1. सद्वा नो योग आ भुवत् स राये स पुरंध्याम्

गमद् वाजेगिरा स न: ।।
ऋ01/5/3 साम0 30/2/10 अथर्व 20/29/9

अर्थात वह अद्वितीय सर्वशक्तिमान अखण्ड आनन्द परिपूर्ण सत्य सनातन परमतत्व हमारी समाधि की स्थिति में दर्शन देने के निमित्त अभिमुख हो।

योगे-योगे तवस्तरं वाजे-वाजे हवामहे।

सखाय इन्द्र भूतये।। शुक्ल यजु0 11/14

अर्थात हम सखा (साधक) प्रत्येक योग अर्थात समाधि की प्राप्ति के लिए तथा हर परेशानी में परम ऐश्वर्यवान इन्द्र का आह्वान करते है।

वेदों में हठयोग के अंगों का वर्णन भी मिलता है।

अष्टचक्र नवद्वारा देवानां पूरयोधया

तस्यां हिरण्यमय: कोश: स्वर्गो ज्योतिषावृत: अथर्ववेद - 10/1/31

अर्थात आठ चक्रो, नव द्वारों से युक्त हमारा यह शरीर वास्तव में देवनगरी है। इसमें हिरण्यमय कोश है जो ज्योति व असीम आनन्द से युक्त है। वास्तव में यह असीम आनन्द की प्राप्ति योग से ही सम्भव है। संक्षेप में कहे तो योग का वर्णन वेदों में बिखरा पड़ा हुआ है तथा आत्मकल्याण ही इसका प्रतिपाद्य विषय है।

2.4.2 उपनिषदों में योग :- उपनिषद जिन्हें वेदान्त भी कहा जाता है इनकी कुल संख्या 108 बताई गई है। अनेकानेक उपनिषदों के अनुसार योग का विवेचन इस प्रकार है।

- योगशिखोपनिषद के अनुसार :-

योऽपान प्राणयोर्ऐक्यं स्थरजो रेतसोस्तथा।

सूर्य चन्द्रमसोर्योगाद् जीवात्म परत्मात्मनो।।
एवं तु द्वन्द्व जालस्य संयोगों योग उच्चते।।

अर्थात्, प्राण और अपान की एकता सतरजरुपी कुण्डलिनी की शक्ति और स्वरेत रुपी आत्मतत्व का मिलन, सूर्य स्वर व चन्द्रस्वर का मिलन एवं जीवात्मा व परमात्मा का मिलन योग है।

- योग शिखोपनिषद में योग के प्रकारो की चर्चा करते कहा है –

मन्त्रो लयो हठो राजयोगान्ता भूमिका: क्रमात्।
एक एव चतुधाड्य महायोगाउभिधीयते।।

अर्थात् , मंत्र योग, लययोग, हठयोग और राजयोग ये चारों जो यथाक्रम चार भूमिकाएं हैं। चारों मिलकर यह एक ही चतुर्विध योग है। जिसे महायोग कहते है। उपनिषदों में मोक्षप्राप्ति के लिये ज्ञान के साथ-साथ योग को भी आवश्यक माना गया है।

- श्वेताश्वतर उपनिषद के अनुसार

न तस्य रोगो न जरा न मृत्यु

प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्।। (2/22)

अर्थात्, योग की अग्नि से बना हुआ शरीर जिसे प्राप्त होता है उसे कोई रोग नहीं होता है न उसके बुढ़ापा आता है और मृत्यु भी नहीं होती है।

- अमृतनादोपनिषद के अनुसार :-

प्रत्याहारस्तथा ध्यानं प्राणायामौन्थ धारणा।
तर्कश्चैव समाधिश्व षडंगोयोग उच्यते।।

अर्थात्, प्रत्याहार धारणा,प्राणायाम, तर्क और समाधि यह षडंग योग कहलाता है। अन्य एक उपनिषद में आसन प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि के छ: अंग बताये गए हैं।

- श्वेताश्वतर उपनिषद योग के फलों को स्पष्ट कर कहती है।

लघुत्वमारोग्यं मलोलुपत्वं

वर्ण प्रसादं स्वर सौष्ठवं च।

गन्धा: शुभो मूत्रपुरीषमल्यं

योग प्रवृत्रिं प्रथमा वदन्ति।। (2/13)

अर्थात्, योग सिद्ध हो जाने पर शरीर हल्का हो जाता है। शरीर निरोगी हो जाता है, विषयों के प्रति राग नहीं रहता। नेत्रों को आकर्षित करने वाली शरीर को कांति प्राप्ति हो जाती है। अर्थात् योगी का शरीर आकर्षक हो जाता हैं। उसका स्वर मधुर हो जाता है, शरीर से दिव्य गंध आती है। शरीर में मलमूत्र की कमी हो जाती हैं।

- कठोपनिषद के अनुसार -

मैत्रायण्युपनिषद् में कहा गया है-

एकत्वं प्राणमनसोरिन्द्रियाणां तथैव च।

सर्वभाव परित्यागो योग इत्यभिधीयते।। 6@25

अर्थात् प्राण, मन व इन्द्रियों का एक हो जाना, एकाग्रावस्था को प्राप्त कर लेना, बाह्य विषयों से विमुख होकर इन्द्रियों का मन में और मन का आत्मा में लग जाना, प्राण का निश्चल हो जाना योग है।

- योगशिखोपनिषद् में कहा गया है-

योऽपानप्राणयोरैक्यं स्थरजोरेतसोस्तथा।

सूर्याचन्द्रमसोर्योगोद् जीवात्मपरमात्मनोः।

एवं तु द्वन्द्व जालस्य संयोगो योग उच्यते।। 1@68&69

अर्थात् अपान और प्राण की एकता कर लेना, स्वरज रूपी महाशक्ति कुण्डलिनी को स्वरेत रूपी आत्मतत्त्व के साथ संयुक्त करना, सूर्य अर्थात् पिंगला और चन्द्र अर्थात् इड़ा स्वर का संयोग करना तथा परमात्मा से जीवात्मा का मिलन योग है।

2.4.3 पुराणों के अनुसार :- पुराणों की संख्या 18 बताई गयी है। अनेकानेक पुराणों में योग के संकेत मिले है।

- अग्निपुराण के अनुसार

  ब्रहमप्रकाशकं ज्ञानं योगस्थ त्रैचिन्तता।

  चित्तवृत्तिनिरोधश्च: जीवब्रहात्मनो: पर:।।

  अग्निपुराण 183।1-2

  अर्थात ब्रहम में चित्त की एकाग्रता ही योग है।

- **नारद पुराण के अनुसार :-** नारद पुराण में अष्टांग योग का वर्णन मिलता है। योग सूत्र में यम के 5 भेद है पर नारद पुराण में क्रमश: (अहिंसा,सत्य,अस्तेय,ब्रहमचर्य,अपरिग्रह, अक्रोधा अनुसूया) 7 भेद यमो के बताये है।

- **मत्स्य पुराण के अनुसार:-** मत्स्य पुराण का कर्मयोग मुख्य प्रतिपाद्य विषय है कहा गया है कि कर्मयोग से ही परम पद (समाधि) की सिद्धि होती है।

- **ब्रहम पुराण के अनुसार :-** ब्रहम पुराण में बताया गया है कि शीत व उष्णता में कमी भी योग का अभ्यास नहीं करना चाहिए। जलाशय के समीप जीर्ण घर में, चौराहो पर, सरीसृपो के निकट तथा श्मशान में योग की साधना नहीं करनी चाहिए।

- **स्कन्ध पुराण के अनुसार :-** स्कन्ध पुराण में किया- योग का विस्तृत वर्णन किया है। वासुदेव भगवान (विष्णु) का पूजन क्रिया-योग बताया है।

- **लिग पुराण में बताया है :-** योगो निरोधों वृत्तेषु चित्तस्य द्विजसताय:।

  साधनान्यपटधा चास्य कथितानीह सिद्धये।।

  अर्थात् चिन्त की वृतियों के विरोध को ही योग कहा जाता है।

2.4.4 योग सूत्र के अनुसार :- योग सूत्र जो महर्षि पतंजलि ने प्रतिपादित किया है इसमें चार पाद है। समाधि पाद, साधना पाद, विभूति पाद तथा कैवल्य पाद।

योग सूत्र के प्रणेता महर्षि पतंजलि ने योग को परिभाषित करते हुए कहा है-

'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' ;ks-lw-1@2

अर्थात् चित्त की वृत्तियों का निरोध करना ही योग है। चित्त का तात्पर्य, अन्तःकरण से है। बाह्यकरण ज्ञानेन्द्रियां जब विषयों का ग्रहण करती हैं, मन उस ज्ञान को आत्मा तक पहुँचाता है। आत्मा साक्षी भाव से देखता है। बुद्धि व अहंकार विषय का निश्चय करके उसमें कर्तव्य भाव लाते हैं। इस सम्पूर्ण क्रिया से चित्त में जो प्रतिबिम्ब बनता है, वही वृत्ति कहलाता है। यह चित्त का परिणाम है। चित्त दर्पण के समान है। अतः विषय उसमें आकर प्रतिबिम्बित होता है अर्थात् चित्त विषयाकार हो जाता है। इस चित्त को विषयाकार होने से रोकना ही योग है।

योग के अर्थ को और अधिक स्पष्ट करते हुए महर्षि पत´जलि ने आगे कहा है-

'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।। 1@3

अर्थात् योग की स्थिति में साधक (पुरुष) की चित्तवृत्ति निरुद्धकाल में, कैवल्य अवस्था की भाँति चेतनमात्र (शुद्ध परमात्म) स्वरूप में स्थित होती है। इसीलिए यहाँ महर्षि पतंजलि ने योग को दो प्रकार से बताया है-

1. सम्प्रज्ञात योग

2. असम्प्रज्ञात योग

सम्प्रज्ञात योग में तमोगुण गौणतम रूप से नाम मात्र रहता है। तथा पुरुष के चित्त में विवेक-ख्याति का अभ्यास रहता है। असम्प्रज्ञात योग में सत्व चित्त में बाहर से तीनों गुणों का परिणाम होना बन्द हो जाता है तथा पुरुष शुद्ध कैवल्य परमात्मस्वरूप में अवस्थित हो जाता है।

2.4.5 भगवत गीता के अनुसार :- भगवतगीता में जिज्ञासु शिष्य अर्जुन को स्वयं भगवान योगेश्वर श्रीकृष्ण ने योग की शिक्षा दी है-

- श्रीमदभगवद्गीता में योगेश्वर श्रीकृष्ण ने कुछ इस प्रकार से परिभाषित किया है-

योगस्थः कुरु कर्माणि संगत्यक्त्वा धनउजयः।

सिद्धयसिद्धयोः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।। 2/48

अर्थात् - हे धन´जय! तू आसक्ति त्यागकर समत्व भाव से कार्य कर। सिद्धि और असिद्धि में समता- बुद्धि से कार्य करना ही योग है। सुख-दुःख, जय-पराजय, हानि-लाभ, शीतोष्ण आदि द्वन्दों में एकरस रहना योग है।

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृत-दुष्कृते।

तस्माद्योगाय युजस्व योगः कर्मसुकौशलम्।। 2/50

अर्थात् कर्मों में कुशलता ही योग है। कर्म इस कुशलता से किया जाए कि कर्म बन्धन न कर सके। अर्थात् अनासक्त भाव से कर्म करना ही योग है। क्योंकि अनासक्त भाव से किया गया कर्म संस्कार उत्पन्न न करने का कारण भावी जन्मादि का कारण नहीं बनता। कर्मों में कुशलता का अर्थ फल की इच्छा न रखते हुए कर्म का करना ही कर्मयोग है।

2.4.6 योग वाशिष्ठ के अनुसार:- योग वाशिष्ठ नामक ग्रन्थ की रचना महर्षि वाशिष्ठ ने की है तथा इस ग्रन्थ में महर्षि वाशिष्ठ ने श्रीरामचन्द्र जी योग के आध्यात्मिक विधाओं को सरलता से समझाया है। योग वाशिष्ठ को महारामायण के नाम से भी जाना जाता है। योग वाशिष्ठ कहता है कि संसार सागर से पर होने की युक्ति का नाम योग है।

2**.4.7 जैन दर्शन के अनुसार:-** योग की परिभाषा देते हुए जैन आचार्य यज्ञोविजय अपने महत्वपूर्ण ग्रन्थ द्वात्रिशिका में कहते है –

''मोक्षेण योजनादेव योगो ह्त्र निरूध्यते''

द्वात्रिशिका (10-1)

जिन-जिन साधनों से आत्मा की शुद्धि और मोक्ष का योग होता है। अर्थात योग के जिन-जिन साधनों से आत्म तत्व की शुद्धि होती है वही साधन योग है।

योग साधना के लिए जैन मत में महाव्रतो की वात भी की है जो क्रमश: अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह है। इनमें भी अहिंसा को बल दिया है। प्रिय विद्यार्थियों आपने अगर जैन आचार्यो को देखा होगा तो वो मुँह में सफेद कपड़ा बांधकर चलते है ताकि कोई भी छोटे-छोटे विषाणुओं की हिंसा ना हो सके। स्मरण रहे उपरोक्त पांचो महाव्रत योग के महत्वपूर्ण भाग अष्टांग योग के यम् है। उपरोक्त के अतिरिक्त जैन आचार्यो ने 10 धर्मो का पालन बताया है।

1. क्षमा 2. मृदुला 3. सरलता 4. शौच 5. सत्य 6. सयंम 7. त्याग 8. औदासिन्य 9. ब्रहमचर्य 10. अहिंसा

आप विचार कीजिए की उपरोक्त साधन वास्तव में योगियों के महत्वपूर्ण अंग परम्परागत समय से रहे है।

उपरोक्त तथ्यों व तर्को से स्पष्ट हो गया होगा कि योग का वर्णन कही ना कही जैन दर्शन में मिलता है।

2.4.8 बौद्ध दर्शन के अनुसार :- बौद्ध दर्शन को नास्तिक दर्शन माना जाता है परन्तु बौद्ध दर्शन में निर्वाण प्राप्ति की चर्चा की है ओर इस निर्वाण प्राप्ति के लिए कुछ उपाय बौद्ध आचार्यो ने बताये है। निर्वाण, समाधि का ही पर्यायवाची शब्द है। योग में जिसे हम समाधि कहते है महर्षि पंतजलि ने उसे कैवल्य नाम दिया जैनियों ने मुक्ति कहा, हिन्दुओं ने मोक्ष। नाम अनेक है पर अर्थ एक ही स्पष्ट होता है कि इस निर्वाण (समाधि) की प्राप्ति करना ही योग है। और इसके 8 मार्ग बताये गये है।

1. सम्यक दृष्टि :- हमारी चार आर्य सत्यो, दु:खों, दुख का कारण, दु:ख नाश व दु:ख नाश के लिए सम्यक दृष्टि रहे।
2. सम्यक संकल्प :- अनात्म पदार्थो को त्यागने के लिए संकल्प लें।
3. सम्यक वाक :- अच्छा बोले, अनुचित वचनों का त्याग करें।
4. सम्यक कर्म :- सम्यक कर्म का अर्थ है अच्छे कर्म करे जिसमें पूरा कर्मयोग आता है।
5. सम्यक आजीव :- न्यायपूर्वक, धर्मानुसार अपनी आजीविका चलाये।
6. सम्यक व्यायाम :- अर्थात बुराइयो को नष्ट कर अच्छे कर्मो के लिए प्रयत्नशील रहना सम्यक व्यायाम है।
7. सम्यक स्मृति :- काम, क्रोध, मोह, लोभ से सम्बन्धित अनात्म वस्तुओं का स्मरण ना करे।

8. स्म्यक् समाधि :- समाधि अर्थात मन को वश में कर चित्त को आत्मकल्यार्ण के लिए एकाग्र करें।

इस प्रकार हम देखते है कि बौद्ध दर्शन की समानता योग के महत्वपूर्ण ग्रन्थ योग दर्शन से मिलती है तथा योग दर्शन का भी प्रतिपाद्य विषय कैवल्य (समाधि) की प्राप्ति है जिसे बौद्ध आचार्य निर्वाण कहते है।

2.4.9 योग की अन्य परिभाषायें :- जिज्ञासु पाठको अभी तक आपने विविध ग्रन्थों तथा भारतीय चिन्तन में योग की परिभाषाओं व स्वरूप को आत्मसात् किया है। अब कुछ अन्य परिभाषाओं व स्वरूप को आपके अवलोकनार्थ इस उद्देश्य से प्रस्तुत है कि आप इन परिभाषाओं तथा पूर्व में वर्णित योग के विविध आयामो को अवश्य अपने जीवन में उतारेंगे।

1. महर्षि व्यास के अनुसार :- योग: समाधि: योग को समाधि बतलाया है।

2. श्रीगुरूग्रन्थ साहिब के अनुसार :- निष्काम कर्म करने में सच्चे धर्म का पालन है यही वास्तविक योग है। परमात्मा के शाश्वत और अखण्ड ज्योति के साथ अपनी ज्योति को मिला देना वास्तविक योग है।

3. महर्षि याज्ञवल्क्य के अनुसार :- जीवात्मा व परमात्मा के संयोग की अवस्था का नाम योग है।

4. श्रीरामशर्मा आचार्य के अनुसार :- जीवन जीने की कला ही योग है।

5. शंकराचार्य जी के अनुसार :- ब्रहम को सत्य मानते हुए और इस संसार के प्रति मिथ्या दृष्टि रखना ही योग है कहा गया है – ''ब्रहमसत्यं जगत्मिथ्या''

6. रागेय राघव के अनुसार :- शिव और शक्ति का मिलन योग है। उपरोक्त विविध परिभाषाओं के अवलोकन के उपरान्त कहा जा सकता है –

आत्मा + परमात्मा = योग

अभ्यास हेतु प्रश्न

1. रिक्त स्थान भरिए :-

क. योग शब्द.......................धातु से बना है।
ख. संस्कृत व्याकरण के अनुसार युज धातु के..............................अर्थ है।
ग. मत्स्य पुराण का मुख्य प्रतिपाद्य विषय.....................है।

2. सत्य/असत्य बताइये।

क. वेदों में योग का वर्णन मिलता है। सत्य/असत्य
ख. महर्षि पतंजलि ने योगसूत्र की रचना की है। सत्य/असत्य
ग. योग आत्म कल्याण का प्रतिपाद्य विषय नहीं है। सत्य/असत्य
घ. आसन, प्राणायाम ही योग है। सत्य/असत्य

3. बहुविकल्पीय प्रश्न

क. योग शब्द संस्कृत व्याकरण के किस धातु रूप में प्रयुक्त होता है।

अ. युजिर योंगे ब. युज् संयमने

स. युज समाधो द. उपरोक्त तीनो

ख. धारणा, ध्यान व समाधि का सम्मिलित रूप है।

अ. संयम ब. क्रियायोग

स. अष्टांग योग द. कैवल्य

ग. योगे-योगे तवस्तरं वाजे-वाजे, हवामहे, उक्त मन्त्र है :-

अ. शुक्ल यजुर्वेद का ब. कृष्ण यजुर्वेद का

स. ऋग्वेद का द. भगवतगीता का

घ. योग- कर्मसु कौशलम् यह श्लोक लिया गया है

अ. योगसूत्र से ब. योगवाशिष्ट से

स. उपनिषदों से द. गीता से

ड. किसने कहा है शिव और शक्ति का मिलन योग है -

अ. रागेय राघव ब. श्रीरामशर्मा आचार्य

स. शंकराचार्य द. महर्षि व्यास

2.5 सारांश

योग शब्द संस्कृत व्याकरण के युज धातु से बना है जिसका अर्थ है जुड़ना। समाधि की प्राप्ति के लिए जो भी विद्याये भारतीय चिन्तन में बताई गई हैं उन साधनाओं के ओर साधक अग्रसरित होना ही योग है। योग को जहॉं महर्षि पतंजलि ने चित्तवृत्ति निरोध के रूप में परिभाषित किया है तो वही दूसरी ओर भगवत गीता में योग को कर्मो की कुशलता के रूप में स्वयं भगवान श्रीकृष्ण ने योग की महिमा का ज्ञान किया है। वेदों, उपनिषदों व पुराणों में भी योग को एक महत्वपूर्ण अंग माना है। जैन तथा बौद्ध दर्शन में भी क्रमशः मुक्ति व निर्वाण प्राप्ति के लिए इस परम्परागत विद्या की उपयोगिता को स्वीकार किया है। योग वास्तव में जीवन के अभीष्ठ (समाधि) की प्राप्ति का एक महत्वपूर्ण सौपान है।

2.6 शब्दावली

सम्यक – ठीक,सही, सीधा

युज - जुड़ना, जोड़ना

सृष्टि – संसार, जगत्

योगागों – योग के अंगों के लिए प्रयुक्त शब्द

सतत् – निरन्तर, लगातार

अतीन्द्रिय – जिसकी इन्द्रियों पर नियंत्रण हो। इन्द्रियों से डरें।

चैतन्य – चेतना युक्त, परमेश्वर

भू-लोक – पृथ्वी

आठ चक्र – मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्धि, आज्ञा, बिन्दु, सहस्रार

देवनगरी – देवताओं का नगर

कुण्डलिनी – मूलाधार चक्र के समीप सोई हुई, सुप्त शक्ति

राग – चाह, सुख के प्रति रहने वाली एक अवस्था
परम पद – अर्थात योग की उच्च अवस्था या समाधि

निर्वाण – कैवल्य, समाधि, मुक्ति, मोक्ष

अनात्म – नष्ट होने वाली जैसे मानव शरीर, समस्त भौतिक पदार्थ

2.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. क. युज् ख. तीन ग. कर्म योग
2. क. सत्य ख. सत्य ग. असत्य घ. असत्य

3. क. द ख. अ ग. अ घ. द ड. अ

2.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. स्वामी विज्ञानानन्द सरस्वती – योग विज्ञान (2003)

सरस्वती स्वामी विज्ञानानन्द

योग निकेतन ट्रस्ट मुनि की रेति ऋषिकेष

2. डा0 कामाख्या कुमार – योग महाविज्ञान

कुमार डॉ0 कामाख्या

स्टैण्डर्ड पब्लिशर्स, नई दिल्ली

2.9 निबंधात्मक प्रश्न

1. योग के अर्थ को स्पष्ट करते हुए वेदों में योग विद्या का वर्णन कीजिए।

2. संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए

अ. उपनिषदों में योग ब. पुराणों में योग

स. भगवत् गीता में योग घ. योग वशिष्ठ में योग

3. जैन व बौद्ध दर्शन में वर्णित योग साधना की तुलनात्मक व्याख्या कीजिए।

इकाई 3:- यौगिक ग्रन्थों का सामान्य परिचय : योगसूत्र, श्रीमदभगवद् गीता, हठयोग प्रदीपिका, घेरण्ड संहिता

3.1 प्रस्तावना

3.2 उद्देश्य

3.3 योगसूत्र का सामान्य परिचय

3.3.1 समाधिपाद

3.3.2 साधनपाद

3.3.3 विभूतिपाद

3.3.4 कैवल्यपाद

अभ्यास प्रश्न

3.4 श्रीमदभगवत गीता का सामान्य परिचय

3.4.1 अर्जुनविषाद योग

3.4.2 सांख्य योग

3.4.3 कर्मयोग

3.4.4 ज्ञानकर्म सन्यास योग

3.4.5 कर्मसन्यास योग

3.4.6 आत्मसंयम योग

3.4.7 ज्ञानविज्ञान योग

3.4.8 अक्षरब्रहम योग

3.4.9 राजविद्या राजगुह्य योग

3.4.10 विभूतियोग

3.4.11 विश्वस्वरूपदर्शन योग

3.4.12 भक्तियोग

3.4.13 क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ योग

3.4.14 गुणत्रय-विभाग योग

3.4.15 पुरूषोतम योग

3.4.16 दैवासुरसम्पद्धिभाग योग

3.4.17 श्रद्धात्रय विभाग योग

3.4.18 मोक्ष सन्यास योग

अभ्यास प्रश्न

3.5 हठयोग प्रदीपिका का सामान्य परिचय

3.5.1 आसन

3.5.2 प्राणायाम

3.5.3 मुद्रा एवं बन्ध

3.5.4 नादानुसंधान

अभ्यास प्रश्न

3.6 घेरण्ड संहिता का सामान्य परिचय

3.6.1 षटकर्म

3.6.2 आसन

3.6.3 मुदा व बन्ध

3.6.4 प्रत्याहार

3.6.5 प्राणायाम

3.6.6 ध्यान

3.6.7 समाधि

अभ्यास प्रश्न

3.7 सारांश

3.8 शब्दावली

3.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

3.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

3.11 निबंधात्मक प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

पिछली इकाई में आपने योग की अर्थ व विविध परिभाषाओं का अध्ययन किया। हमारे समस्त प्राचीन आर्ष ग्रन्थों में योग का वर्णन कही न कही अवश्य मिलता है। जहॉ एक ओर महार्षि पतंजलि ने योग सूत्र नामक पुस्तक में योग के विविध आयामों को सुस्पष्ट किया है वही दूसरी ओर भगवान श्रीकृष्ण ने भगवत गीता में योग की महिमा का ज्ञान स्वयं आने श्रीमुख से किया है। योग की अनेकानेक शाखाये भी है जिसमें हठयोग के महत्वपूर्ण ग्रन्थों हठप्रदीपिका तथा घेरण्ड संहिता में यौगिक अभ्यासों का वर्णन बड़े सरल-सरस व प्रभावपूर्ण तरीके से किया गया है। प्रस्तुत इकाई में योगसूत्र, भगवदगीता, हठयोगप्रदीपिका तथा घेरण्ड संहिता का सामान्य परिचय आपके सम्यक विश्लेषण के लिए किया जा रहा है।

3.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के बाद आप

- जान सकेंगे कि योग सूत्र के वर्ण्य विषय क्या है।
- भगवत गीता के 18 अध्याओं की विषयवस्तु का विश्लेषण कर सकेंगे।
- हठयोग के प्रमुख ग्रन्थ हठप्रदीपिका के चारों अध्याओं की विषयवस्तु को जान सकेंगे।
- घेरण्ड संहिता नामक पुस्तक में वर्णित हठयोग की क्रियाओं का अध्ययन करेंगे।

जिज्ञासु पाठको तथा आम नागरिकों के समक्ष अक्सर योग विषयक प्रश्नों को जानने की इच्छा रहती है –

- योग सूत्र में कौन सी साधनाओं का वर्णन है ?
- भगवतगीता के 18 अध्याओं की विषयवस्तु क्या है ?
- आसन, प्राणायाम, मुद्रा, बन्ध तथा षटकर्मो का वर्णन कौन सी पुस्तक में मिलता है ?
- क्या हठयोग में भी समाधि का वर्णन मिलता है ?
- नादानुसंधान क्या है ?

अगले पृष्ठों का अध्ययन कर लेने के बाद आप उपरोक्त प्रश्नों के उत्तर जान सकेंगे –

3.3 योगसूत्र का सामान्य परिचय

महर्षि पतंजलि प्रणीत यह ग्रन्थ योग का प्रामाणिक आधारग्रन्थ कहलाता है। इससे पूर्व योग के तत्वों का एक जगह पर संकलन देखने को नहीं मिलता। योग की जो परम्परा सृष्टि के आदि काल से चली आ रही थीं, उसमें अनेक साधकों ने विभिन्न साधनाओं को सम्मिलित कर लिया था। महर्षि पतंजलि के समय भी वे साधनाएं विद्यमान थी जिनका

संकेत उनके द्वारा योगसूत्र में कर दिया गया है। मुख्य रूप से योग की साधना का वास्तविक स्वरूप प्रकट करना उनका उद्देश्य रहा है।

इस ग्रन्थ में चार अध्याय हैं जिन्हें समाधिपाद, साधनपाद] विभूतिपाद और कैवल्यपाद नाम दिया गया है। समाधिपाद में **51]** साधनपाद में **55]** विभूतिपाद में **55** तथा कैवल्यपाद में **34** सूत्र हैं। इस प्रकार कुल **195** सूत्रों का सृजन करके योगविद्या को व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया गया है। विविध पादो की विषयवस्तु का आपके अवलोकनार्थ वर्णन इस प्रकार है।

(क) समाधिपाद- इस पाद में 'अथ योगानुशासनम्' सूत्र से ग्रन्थ का प्रारम्भ किया गया है। अथ शब्द मंगलवाची तथा आरम्भवाची है। जिसके द्वारा लक्षण, भेद, उपाय तथा फल सहित शिक्षा दी जाए, वह अनुशासन कहलाता है। अतः इस सूत्र के माध्यम से परमेश्वर से सूत्रकार प्रार्थना करते हुए कहते हैं कि 'मैं योग का लक्षण, भेद, उपाय तथा फलसहित वर्णन कर रहा हूँ, यह मेरा कार्य निर्विघ्न सम्पन्न हो।' योग का अर्थ चित्तवृत्ति निरोध के द्वारा दृष्टा की निजस्वरूप में प्रतिष्ठा होना बताया गया है। यह एक लम्बी प्रक्रिया है जिसके अधिकारी अलग-अलग स्थिति के साधक हैं। पूर्वजन्म में साधना कर चुके साधक जिन्हें समाधि प्राप्त नहीं हुयी वे पुनर्जन्म में उत्तम अधिकारी बनकर शीघ्र समाधि लाभ करें, उनके लिए उक्त प्रथम समाधिपाद का वर्णन किया गया है।

समाधिपाद में योग से कैवल्य या स्वरूपावस्थान के लक्ष्य को भी प्रकट कर दिया गया है। पांच प्रकार की चित्तवृत्तियों का वर्णन करके चित्त के निरोधोपाय के रूप में अभ्यास-वैराग्य की महत्ता बताई गई है। यही अभ्यास और वैराग्य की साधना राजयोग की साधना कहलाती है।

प्रमाण के तीन भेद- प्रत्यक्ष, अनुमान व आगम का वर्णन किया गया है। अभ्यास को दृढ़ करने के उपाय, वैराग्य की स्थिति को स्पष्ट किया गया है। सम्प्रज्ञात समाधि के चार भेदों- वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत तथा अस्मितानुगत- का विस्तार से वर्णन किया गया है। परवैराग्य की अवस्था तथा इनके द्वारा प्राप्त होने वाली असम्प्रज्ञात समाधि को लक्ष्य कहा गया है। भवप्रत्यय समाधि विदेह तथा प्रकृतिलयों को प्राप्त होती है, अन्य के लिए उपाय प्रत्यय है जिसके साधन- श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा कहे गए हैं। तीव्र संवेग से शीघ्र समाधि लाभ होने तथा समाधिलाभ के उपाय रूप में ईश्वरप्रणिधान का उल्लेख किया गया है। ईश्वर का स्वरूप जिसमें अन्य पुरुषों से उसकी भिन्नता कही गई है, बताया गया है-

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः। ;ks-lw- 1@24

ईश्वर-प्रणिधान के विशेष फल प्रत्तय चेतना का साक्षात्कार तथा अन्तरायों के अभाव का कथन किया गया है। ईश्वर-प्रणिधान से जीवात्मा तथा ईश्वर दोनों का साक्षात्कार सम्भव है। इसी को भक्तियोग के रूप में कहा जा सकता है। साधना के विघ्नों- व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व तथा अनवस्थितत्व के अतिरिक्त इन अन्तरायों के सहभुवः- दुःख, दौर्मनस्य, अंगमेजयत्व, श्वास और प्रश्वास का वर्णन करके इनके निराकरण का दूसरा उपाय 'एकतत्वाभ्यास' कहा गया है।

चित्त को समाहित करने के लिए चित्त की निर्मलता आवश्यक है। इस निर्मलता की प्राप्ति हेतु मैत्री, करुणा, मुदिता तथा उपेक्षा की भावनाओं को धारण करना चाहिए-

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्त प्रसादनम्। ;ks-lw-1@33

अर्थात् चित्त को सदैव प्रसन्न रखने के लिए उपाय रूप में सुखी व्यक्तियों को देखकर उनसे मित्रता का भाव, दुःखी के प्रति करुणा का भाव, पुण्यशाली के प्रति प्रसन्नता का भाव तथा पापी को देखकर उसकी उपेक्षा करने के भाव से चित्त में समरसता बनी रहती है तथा उद्वेग नहीं होता। प्राणायाम, विषयवती प्रवृत्ति, विशोका या ज्योतिष्मती प्रवृत्ति, वीतराग चित्त, स्वप्न तथा निद्रा, यथाभिमत ध्यान आदि के माध्यम से चित्त की एकाग्रता होने का वर्णन है। ऐसे एकाग्र चित्त में समापत्ति हो जाती है जो चार प्रकार की है- सवितर्का, निर्वितर्का, सविचार व निर्विचार। इनसे बुद्धि में प्रसन्नता तथा निर्मलता रूपी अध्यात्म प्रसाद ऋतम्भरा प्रज्ञा प्राप्त हो जाती है जिससे विवकेख्याति का उदय होने पर निर्बीज समाधि की भूमि तैयार हो जाती है। विवेकख्याति का निरोध हो जाने पर असम्प्रज्ञात या निर्बीज समाधि सिद्ध हो जाती है। यहाँ तक समाधिपाद का लक्ष्य 'असम्प्रज्ञात समाधि की प्राप्ति का उपाय' उत्तम अधिकारियों के लिए कहा गया है।

(ख) साधन पाद- साधनपाद मध्यम अधिकारियों के लिए साधना की विधि से प्रारम्भ होता है। तप, स्वाध्याय व ईश्वर-प्रणिधान रूप क्रियायोग को समाधि की प्राप्ति तथा क्लेशों को कमजोर करने के लिए उपाय के रूप में प्रस्तुत किया गया है। पाँच क्लेशों- अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश के स्वरूप का वर्णन तथा क्लेशों के कारण बनने वाले कर्माशय के फलस्वरूप जाति, आयु व भोग प्राप्त होने का उल्लेख किया गया है। परिणाम, ताप व संस्कार दुःखों का वर्णन, दुःखरूप जगत् का व्याख्यान करके हेय, हेयहेतु, हान तथा हानोपाय रूपी चतुर्व्यूह का वर्णन किया गया है। दृश्य, (प्रकृति) का स्वरूप तथा प्रयोजन निम्नलिखित सूत्र द्वारा प्रकट किया गया है-

प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम्। योगसूत्र 2@18

अर्थात् प्रकाश, क्रिया और स्थिति जिसका स्वभाव है, भूत और इन्द्रिय जिसका स्वरूप हैं, भोग तथा अपवर्ग जिसका प्रयोजन हैं, वह दृश्य है। सत्व, रजस् व तमस् गुण तथा इनसे जो भी बना है, वह दृश्य है। पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, एक मन तथा पाँच महाभूत- इन **16** तत्वो को विशेष कहा गया है। पाँच तन्मात्रा तथा एक अहंकार को अविशेष, महत्व को लिंगमात्र तथा मूलप्रकृति को अलिंग कहा है। द्रष्टा देखने की शक्तिमात्र है। वह निर्विकार होते हुए भी चित्त की वृत्तियों के अनुसार देखता है। अविद्या के कारण द्रष्टा व दृश्य का संयोग होता है, जो दुःख का कारण है। विवकेख्याति द्वारा द्रष्टा व दृश्य का यथार्थ ज्ञान होने से कैवल्य की उपलब्धि होती है। योगांगों यमनियमादि के अनुष्ठान से अशुद्धि का नाश होने के कारण ज्ञान का प्रकाश विवकेख्याति पर्यन्त हो जाता है। यहाँ नवीन साधक या अधम साधकों के लिए अष्टांगयोग का वर्णन किया गया है जिसके प्रथम अंगों को बहिरंग कहा है तथा साधनपाद में यम-नियम-आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार तक पाँच अंगों का वर्णन किया गया है तथा धारणा, ध्यान व समाधि को अंतरंग कहा गया है –

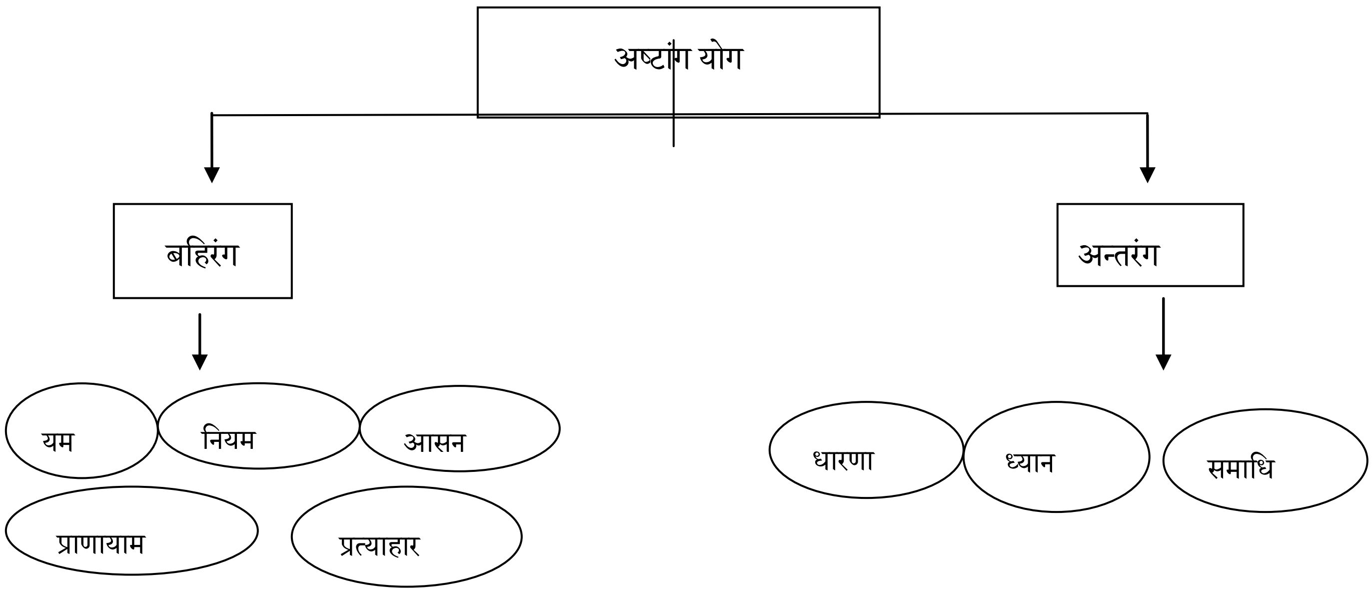

(ग) विभूतिपाद- विभूतिपाद का प्रारम्भ धारणा, ध्यान और समाधि के लक्षणों द्वारा होता है। इन तीनों के एक ही स्थान पर होने को संयम कहा है। संयम के सिद्ध होने पर समाधि प्रज्ञा का प्रकाश होता है। चित्त के निरोधपरिणाम, समाधिपरिणाम व एकाग्रता परिणाम की चर्चा की गई है। भूत व इन्द्रियों के धर्म, लक्षण व अवस्था परिणाम पर प्रकाश डाला गया है। इसके पश्चात् संयमजन्य विभूतियों का वर्णन किया गया है, जो निम्नप्रकार कही गई हैं-

1. अतीतानागतज्ञान, **2**. सर्वभूतरुतज्ञान, **3**. पूर्वजातिज्ञान, **4**. परचित्तज्ञान, **5**. अन्तर्धान, **6**. अपरान्तज्ञान, **7**. मैत्र्यादिबलप्राप्ति, **8**. हस्त्यादिबलप्राप्ति, **9**. सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञान, **10**. भुवनज्ञान, **11**. ताराव्यूहज्ञान, **12**. तारागतिज्ञान, **13**. कायव्यूहज्ञान, **14**. क्षुत्पिपासानिवृत्ति, **15**. स्थिरता, **16**. सिद्धदर्शन, **17**. त्रैकालिक पदार्थज्ञान, **18**. चित्तसंवित्, **19**. पुरुषज्ञान, **20**. प्रातिभज्ञान, **21**. श्रावणज्ञान, **22**. वेदनाज्ञान, **23**. आदर्शज्ञान, **24**. आस्वादज्ञान, **25**. वार्ताज्ञान, **26**. परकायप्रवेश, **27**. जल, पंक तथा कण्टक के ऊपर स्वच्छन्द गमन, **28**. ऊर्ध्वलोकगमन, **29**. ज्वलन, **30**. दिव्य श्रोत्र, **31**. आकाशगमन, **32**. प्रकाशावरणक्षय, **33**. भूतजय, **34**. अणिमा, **35**. लघिमा, **36**. महिमा, **37**. गरिमा, **38**. प्राप्ति, **39**. प्राकाम्य, **40**. ईशित्व, **41**. वशित्व, **42**. कायसम्पत्, **43**. अभिघाताभाव, **44**. इन्द्रियजय, **45**. मनोजवित्व **46**. विकरणभाव, **47**. प्रधानजय, **48**. सर्वाधिष्ठातृत्व, **49**. सर्वज्ञत्व।

(घ) कैवल्यपाद- इस पाद में कहा है कि संयमजन्य सिद्धियों के अतिरिक्त जन्म, औषधि, मन्त्र, तप और समाधि द्वारा भी सिद्धियाँ होती हैं। तप आदि के द्वारा जैसे जैसे तामसिक व राजसिक वृत्तियों का नाश तथा सत्व का प्रकाश होता है तो वैसे-वैसे साधक में भक्ति-संचरण होता जाता है। इस प्रकार वह पूर्व की अपेक्षा अधिक शक्ति सम्पन्न हो जाता है। समाधि या ध्यान से उत्पन्न होने वाला चित्त वासना रहित होने के कारण श्रेष्ठ कहा गया है। कर्म के चार प्रकार बताए हैं- शुक्ल (पुण्य) कृष्ण (पाप) शुक्ल-कृष्ण (पुण्य-पाप) तथा अशुक्लाकृष्ण (पुण्य पाप रहित) । प्रथम तीन सामान्य मनुष्य के हैं तथा चतुर्थ

प्रकार के कर्म योगी के हैं। इन्हें ही अनासक्त कर्म कहा गया है। प्रथम तीन प्रकार के कर्मों के कारण ही वासनाएं चित्त में एकत्र होती हैं तथा उन्हीं के फल-भोग हेतु जन्म लेना पड़ता है। ये वासनाएं हेतु, फल, आश्रय व आलम्बन पर आधारित हैं। इनका हेतु अविद्या आदि क्लेश तथा सकाम तीनों प्रकार के कर्म, इनका फल जाति, आयु तथा भोग, वासनाओं का आश्रय चित्त तथा आलम्बन इन्द्रियों के विषय कहे गए हैं। इससे आगे पुरुष व चित्त में भेद बताकर पुरुष के स्वरूप को समाधि द्वारा जानने का वर्णन किया गया है। विवेकज्ञान होने पर साधक का चित्त कैवल्य की ओर गति करने वाला होता है किन्तु कभी-कभी पूर्वजन्म के संस्कारवश ऐसे चित्त में भी व्युत्थान की वृत्तियाँ उत्पन्न होने लगती हैं। उनकी निवृत्ति क्लेशों की तरह कही गई है- 'हानमेषां क्लेशवदुक्तम्'। विवेकख्याति या प्रसंख्यान ज्ञान से भी विरक्त होकर योगी में निरन्तर विवेकख्याति का प्रवाह होने को धर्ममेघ समाधि कहा गया है। यह विवेकख्याति की परिपक्व अवस्था है। इसकी पराकाष्ठा ज्ञानप्रसाद नामी परवैराग्य को कहा गया है जिसका फल असम्प्रज्ञात समाधि है। जिसमें संस्कार दग्धबीज हो कर क्लेश-कर्म की निवृत्ति हो जाती है। इस समय ज्ञान का प्रकाश इतना अधिक होता है कि जानने योग्य कुछ शेष नहीं बचता। गुणों के परिणाम क्रम की समाप्ति हो जाती है। गुणों की प्रवृत्ति पुरूष के भोग व मोक्ष के लिए होती है। जब तक ये दोनों लक्ष्य पूर्ण नहीं होते तब तक शरीर इन्द्रियों आदि के क्रम को चलाते हैं। मोक्ष की स्थिति प्राप्त होने से परिणामक्रम टूट जाता है तथा पुरुषार्थ शून्य गुणों का अपने कारण (मूलप्रकृति) में प्रतिप्रसव हो जाता है, यही कैवल्य है या पुरुष की निज स्वरूप में प्रतिष्ठा कही जाती है-

'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।';ks-lw-1@3

यही योगसूत्र का प्रतिपाद्य विषय है।

अभ्यास प्रश्न

1. रिक्त स्थान भरिए –

क. योगसूत्र के रचनाकार...........................है।
ख. योगसूत्र में कुल........................ पाद है।

ग. समाधिपाद में सूत्रों की संख्या...................है।

घ. संयम के सिद्ध हो जाने पर ....का प्रकाश होता है।

2. सत्य/असत्य बताइये

क. योगसूत्र में सूत्रों की संख्या 295 है। सत्य/असत्य

ख. अष्टंगयोग का वर्णन योगसूत्र में नहीं है। सत्य/असत्य

ग. षटकर्म योगसूत्र के अभिन्न अंग है। सत्य/असत्य

घ. विवेकज्ञान होने पर साधक का चित्त कैवल्य की ओर गति करने वाला होता है। सत्य/असत्य

3. बहुविकल्पीय प्रश्न

क. अभ्यास व वैराग्य का वर्णन योग सूत्र के कौन से पाद में है।

अ. समाधिपाद ब. साधनपाद

स. विभूतिपाद द. कैवल्यपाद

ख. क्लेशो को कम करने के लिए योग सूत्र में कौन सी साधना बताई है।

अ. भक्तियोग ब. अष्टांगयोग

स. क्रियायोग द. ईश्वर प्रणिधान

3.4 श्रीमदभगवदगीता का सामान्य परिचय

पाठकों आप श्रीमदभगवदगीता के नाम से भली भॉति परिचित होंगे। महाभारत के युद्ध में जब अर्जुन ने युद्धभूमि में अपने नाते रिश्तेदारों, चचेरे-ममेरे भाईयों को अपने सामने देखा तो अर्जुन युद्धभूमि में धनुष वाण किनारे रख बैठ जाता है तथा अपने अराध्य सारथी कृष्ण से युद्ध के लिए मना कर देते है ऐसी स्थित में स्वयं योगेश्वर भगवान कृष्ण ने अर्जुन को जो शिक्षा दी वह गीता के नाम से प्रचलित है।

समस्त शास्त्रों का सार यह गीता ऐसा ग्रन्थ है जिसमें धर्मशास्त्र, दर्शनशास्त्र, नीतिशास्त्र आदि सभी का समन्वय है। जो व्यक्ति किंकर्तव्यमूढ़ स्थिति में हताश और निराश होकर बैठ जाए, उसको भी निजकर्तव्य बोध कराकर जीवनमार्ग को प्रशस्त करने वाला ग्रन्थ है।

श्रीमद्भगवद्गीता में 18 अध्याय हैं जो महाभारत के भीष्मपर्व के 23 से 40 अध्यायों तक की रचना हैं जिसमें 700 लोक हैं। अध्यायों का नामकरण निम्नप्रकार किया गया है-

3.4.1 अर्जुन विषाद योग- इस अध्याय में 46 श्लोक हैं। अर्जुन दोनों सेनाओं के मध्य खड़ा होकर युद्ध के लिए तैयार सेना के महारथियों को देखकर मोहग्रस्त हो जाता है कि ये सभी तो मेरे दादा, गुरु, भाई, सम्बन्धी आदि हैं। मैं इन लोगों से युद्ध कैसे करुँगा\ किंकर्तव्यविमूढ़ होकर वह हताश और निराश होकर शस्त्र त्यागकर रथ में ही बैठ जाता है। यह अर्जुनविषाद योग नामक अध्याय की विषयवस्तु है।

3.4.2 सांख्य योग- यह अध्याय 72 श्लोक वाला है। इसमें भगवान् कृष्ण अर्जुन को समझाते हुए कहते हैं कि अर्जुन युद्धक्षेत्र में आकर तुम कैसी कायरों की सी बातें कर रहे हो यह दुर्बलता छोड़कर युद्ध के लिए तैयार हो जाओ। किन्तु अर्जुन तैयार नहीं हुए तो उन्होंने कहा कि तुम यह समझते हो कि मैं पहले नहीं था या तुम नहीं थे या आगे नहीं रहेंगे। यह आत्मा न तो किसी काल में जन्म लेता है, न मरता है। यह अजन्मा, नित्य, सनातन और पुरातन है। शरीर के नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होता। जो इसे अविनाशी, अजन्मा, नित्य समझता है। वह कैसे किसको मारता है या मरवाता है जैसे पुराने वस्त्रों को उतारकर व्यक्ति नवीन वस्त्रों को धारण करता है और दुःखी नहीं होता। उसी प्रकार जीवात्मा भी पुराने शरीर को त्यागकर नया शरीर धारण करता है। यह आत्मा अजर, अमर है। शस्त्र इसे काट नहीं सकते, आग जला नहीं सकती, पानी गीला नहीं कर सकता,

हवा सुखा नहीं सकती। अतः इसके लिए शोक करने की आवश्यकता नहीं है। यदि यह धर्मयुद्ध नहीं करेगा तो पाप तथा अकीर्ति प्राप्त करेगा। तू केवल निष्काम भाव से कर्म कर। कर्म करना तेरा अधिकार है। फल तो कर्म के अनुसार स्वतः मिल जाएगा। हे अर्जुन! जो अनुकूल परिस्थिति में प्रसन्नता प्रकट नहीं करता तथा प्रतिकूल परिस्थिति में दुःखी नहीं होता। सब कामनाओं का त्यागकर, ममतारहित, अहंकाररहित होकर विचरता है, वही शान्ति को प्राप्त होता है। इसी को प्राप्त करके निर्वाण को प्राप्त कर लेता है।

3.4.3 कर्मयोग- इस अध्याय में 43 श्लोक हैं जो कर्मयोग का प्रतिपादन करते हैं, प्रत्येक व्यक्ति क्षणभर भी कर्म किए बिना नहीं रह सकता किन्तु उनमें आसक्ति छोड़कर कर्म करने से उसका फल नहीं भोगना पड़ता। यही निष्काम कर्मयोग है। श्रेष्ठ पुरुष जो आचरण करते हैं, वैसा ही अन्य लोग भी करते हैं। जैसा वह मार्ग चुन लेते हैं, वैसा ही लोक उनका अनुसरण करता है-

यद् यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनाः।

स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते।। गीता **3@21**

3.4.4 ज्ञानकर्म संन्यास योग- इसमें कुल 42 श्लोक हैं, जो अर्जुन को योग की परम्परा का ज्ञान देते हैं कि अर्जुन अब तक मेरे और तुम्हारे अनेक जन्म हो चुके हैं, जिन्हें मैं जानता हूँ, तुम नहीं जानते। जब धर्म की हानि तथा अधर्म की वृद्धि होती है, तब मैं सज्जनों की रक्षा तथा दुष्टों को दण्डित करने के लिए तथा धर्म की स्थापना के लिए उपयुक्त रूप में प्रकट होता हूँ।

3.4.5 कर्मसंन्यास योग- इस अध्याय में 28 श्लोक हैं। इसमें संन्यास तथा कर्मयोग का वर्णन करते हुए कहते हैं कि कर्मसंन्यास और कर्मयोग दोनों ही कल्याणकारी हैं। दोनों में कर्मसंन्यास से कर्मयोग सुगम होने के कारण श्रेष्ठ है। सांख्य तथा योग दोनों को अलग नहीं समझना चाहिए। जो व्यक्ति सब कामनाओं से रहित होकर सब कर्मों को प्रभु को अर्पित कर देता है, वह जल में कमलपत्र की तरह जल से लिप्त नहीं होता-

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः।

लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा।। गीता 5@10

3.4.6 आत्मसंयम योग- यह अध्याय 47 श्लोक वाला है। इसमें ध्यान योग का वर्णन, उसके उपयुक्त स्थान आदि का निर्देश किया गया है। शुद्ध स्थान में जिस पर कुशा, मृगछाला, वस्त्र बिछे हों, न ऊँचा न नीचा हो, ऐसे स्थान पर आसन लगाकर बैठे। मन को एकाग्र करके अन्तःकरण की शुद्धि का अभ्यास करे। शरीर, सिर तथा गर्दन सीधी तथा अचल रखें, नासिकाग्र पर दृष्टि रखें, ब्रह्मचर्य व्रती हो, भयरहित होकर साधना करें। न अधिक खाने, न भूखा रहने, न बहुत सोने, न जागने वाले को यह योग सिद्ध नहीं हो सकता। यथायोग्य नियमित आहार-विहार करने, कर्मों में यथायोग्य चेष्टा करने, यथायोग्य सोने व जागने वाले को ही योग सिद्ध होता है। मन को वश में करने के लिए दो ही उपाय हैं-अभ्यास और वैराग्य। क्योंकि असंयत मन वाला इस योग को प्राप्त नहीं हो सकता। साधना करके जो मोक्षप्राप्त नहीं कर पाता, वह योगी पुनः अच्छे कुल

में जन्म लेकर साधना करके कल्याणमार्ग पर बढ़ जाता है। वह नाश को प्राप्त नहीं होता। योगी तपस्वियों से श्रेष्ठ है, ज्ञानियों से श्रेष्ठ है, सकाम कर्मरत लोगों से भी श्रेष्ठ है। अतः योगी बनो।

3.4.7 ज्ञानविज्ञानयोग- इसमें 30 श्लोक हैं। ईश्वर व जगत् सम्बन्धी ज्ञान-विज्ञान पर चर्चा की गई है। हजारों मनुष्यों में से कोई एक सिद्धि के लिए प्रयास करता है। उन सिद्धि करने वाले हजारों सिद्धों में से कोई एक परायण होकर तत्व को जानता है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, अहंकार- यह आठ प्रकार की परमात्मा की प्रकृति हैं, जो जड़ हैं, दूसरी जीवरूपा चेतन प्रकृति है जो जगत् को धारण किए है। सम्पूर्ण जगत् इन दो से ही उत्पन्न हुए हैं। कृष्ण कहते हैं कि अर्जुन! मैं ही जगत् का मूल कारण हूँ, मुझसे भिन्न अन्य कुछ नहीं है। मुझे चार प्रकार के लोग भजते हैं- अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी। ज्ञानी श्रेष्ठ है। जिनका मोह नष्ट हो गया है। वे ज्ञानी मुझे ब्रह्मरूप में भजते हैं, अन्य मुझे नहीं भजते।

3.4.8 अक्षरब्रह्म योग- इसमें 28 श्लोक हैं। श्रीकृष्ण ब्रह्म, अध्यात्म, धर्म आदि से सम्बन्धित अर्जुन के प्रश्नों का उत्तर देते हुए कहते हैं। परम अक्षर ब्रह्म है, अपना स्वरूप जीवात्मा अध्यात्म नाम से कहा जाता है। भूतों के भावों को उत्पन्न करने वाला जो त्याग हैं, वह 'कर्म' कहा जाता है। क्षर सब पदार्थ अधिभूत हैं, हिरण्यमय पुरुष अधिदैव हैं तथा मैं स्वयं वासुदेव ही 'अधियज्ञ' हूँ। जो व्यक्ति अन्तकाल में मेरा स्मरण करता हुआ शरीर को त्यागता है, वह मुझे ही प्राप्त होता है।

3.4.9 राजविद्या राजगुह्ययोग- इस अध्याय में 34 श्लोक हैं। श्रीकृष्ण कहते हैं कल्पान्त में सभी भूत मेरी प्रकृति को प्राप्त होते हैं तथा कल्पारम्भ में उनको फिर उत्पन्न करता हूँ। मेरे द्वारा प्रेरित प्रकृति समस्त जगत् को उत्पन्न करती है। जो भक्त मुझे पत्र, पुष्प, फल, जल आदि अर्पण करता है, उसे मैं प्रीतिपूर्वक स्वीकार करता हूँ। इसलिए हे अर्जुन! तू जो करता है, खाता है, हवन करता है, दान देता है, जो तप करता है, वह सब कुछ मुझे अर्पित कर। इससे तू कर्मबन्धन से मुक्त हो जाएगा।

3.4.10 विभूतियोग- इस अध्याय में 42 श्लोक हैं। इसमें भगवान् की विभूति, योगशक्ति तथा प्रभाव सहित भक्तियोग का कथन, अर्जुन के पूछने पर भगवान् के द्वारा अपनी विभूतियों का और योगशक्ति का कथन किया गया है। श्रीकृष्ण कहते हैं, मैं देवताओं तथा महर्षियों का आदि कारण हूँ, जो मुझे अजन्मा, अनादि और ईश्वर रूप में जानता है, वह सब पापों से मुक्त हो जाता है। सबकी उत्पत्ति का कारण मैं ही हूँ। अर्जुन द्वारा विभूति तथा योगशक्ति देखने की इच्छा प्रकट करने पर श्रीकृष्ण द्वारा दिव्यविभूतियों को दिखाया जाता है।

3.4.11 विश्वरूपदर्शन योग- इसमें 55 श्लोक हैं जिनमें भगवान् के दिव्यरूपों का वर्णन है। अर्जुन को दिव्यदृष्टि देकर अपने रूपों का दर्शन कराते हैं- अनेक मुख, अनेकनेत्र, दिव्य आभूषणों से युक्त, दिव्यशस्त्रों से युक्त, दिव्य माला, वस्त्र, दिव्यगन्ध, दिव्य लेप, सब ओर मुख किए हुए परमदेव परमेश्वर को देख विस्मय से भरे हुए पुलकित शरीर अर्जुन श्रद्धा-भक्तिपूर्वक सिर झुकाकर प्रणाम करके हाथ जोड़कर बोले- मैं आपके शरीर में सम्पूर्ण देवों, भूतों, ब्रह्मा, महादेव, समस्त शिष्यों, अनेक भुजाओं, उदर, मुख, नेत्रों तथा रूपों वाला देख रहा हूँ जिसका आदि, मध्य तथा अन्त नहीं दिखाई पड़ता। आप ही जानने योग्य हैं, आप ही अक्षर, अविनाशी ब्रह्म हैं। सभी धृतराष्ट्र-पुत्र, भीष्म, द्रोण, कर्ण आदि आपके मुख में समाहित होते जा रहे हैं। आप उग्र रूप वाले कौन हैं श्रीकृष्ण ने कहा- लोकों का नाश करने वाला मैं महाकाल हूँ। युद्ध में

सभी प्रतिपक्षी योद्धा तुम्हारे द्वारा न मारे जाने पर भी मारे जाएंगे। क्योंकि ये मेरे द्वारा पहले ही मार दिए गए हैं। तू युद्ध में जीतेगा। अतः युद्ध कर।

3.4.12 भक्तियोग- इसमें 20 श्लोक हैं जिसमें साकार व निराकार उपासकों की श्रेष्ठता का वर्णन किया गया है। भगवान् कहते हैं कि यदि तू चित्त को मुझमें लगाने में समर्थ नहीं है तो अभ्यास कर। यदि अभ्यास में भी असमर्थ हैं तो मेरे लिए कर्म कर। इस प्रकार मेरे लिए कर्म करता हुआ मुझे ही प्राप्त होगा। अभ्यास से ज्ञान श्रेष्ठ है, ज्ञान से ध्यान श्रेष्ठ है तथा ध्यान से कर्मफल त्याग श्रेष्ठ है क्योंकि उससे तुरन्त शान्ति की प्राप्ति होती है। जो मुझमें ही सुख को प्राप्त करता है, उसको मैं अपनी नौका से स्वयं पार उतार देता हूँ।

3.4.13 क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ योग- इस अध्याय में 34 श्लोक हैं जिनमें क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ का वर्णन किया गया है, अहिंसा, मानहीनता, दम्भहीनता आदि को धारण करने वाला ज्ञानी पुरुष जिसे जानकर अमृततत्व को प्राप्त होता है। वह अनादि परमब्रह्म न सत् कहा जाता है, न असत्। वह सब ओर हाथ, पैर, नेत्र, सिर और मुखवाला है। सब में व्याप्त है। सब चराचर भूतों के बाहर व अन्दर भी वही कार्य और करण के उत्पन्न करने में हेतु प्रकृति है। सुख-दुःखों के भोक्तापन में हेतु पुरुष है। जो चराचर प्राणी उत्पन्न होते हैं, वे क्षेत्र व क्षेत्रज्ञ के संयोग से ही उत्पन्न होते हैं।

3.4.14 गुणत्रय-विभाग योग- इस अध्याय में 27 श्लोक हैं जिनमें प्रकृति के तीनों गुणों का वर्णन किया गया है। प्रकृति ही परमेश्वर की योनि है, उससे ही जड़ चेतन के संयोग से सब भूतों की उत्पत्ति होती है। प्रकृति गर्भधारण करने वाली माँ तथा परमेश्वर बीज स्थापन करने वाला पिता है। सत्व, रजस् व तमस्- ये तीन गुण प्रकृति के हैं जो प्रकाशक, तृष्णा-आसक्ति तथा आलस्य-निद्रा रूप जान। सत्व गुण सुख में, रजोगुण क्रिया में, तथा तमोगुण प्रमाद में लगाता है। सत्व की वृद्धि से चेतना व ज्ञान, रजोगुण की वृद्धि से लोभ, प्रवृत्ति, आरम्भ, अशान्ति व भोगलिप्सा तथा तमोगणु की वृद्धि से अन्तःकरण व इन्द्रियों में अप्रकाश, कर्तव्यकर्मों में अप्रवृत्ति, प्रमाद और निद्रा उत्पन्न होते हैं। जब द्रष्टा इन गुणों को ही कर्ता देखता है तथा इनसे परे सच्चिदानन्द परमात्मा को जानता है तो वह जन्मादि को पारकर अमृततत्व को प्राप्त होता है।

3.4.15 पुरुषोत्तम योग- 20 श्लोकों के इस अध्याय में संसार वृक्ष, भगवत्प्राप्ति के उपाय, परमेश्वर के स्वरूप एवं क्षर, अक्षर एवं पुरुषोत्तम के स्वरूप का वर्णन किया गया है। ऊपर मूल नीचे शाखा वाले पीपल के वृक्ष को अविनाशी कहते हैं। जिसके पत्ते वेद हैं, उसको जो तत्व से जानता है वह वेद को जानने वाला है। उस संसारवृक्ष को वैराग्य रूप शस्त्र से काटकर परमपद प्राप्त करना चाहिए। जिनकी कामनाएँ पूर्ण रूप से नष्ट हो गई हैं, वे सुख-दुःख नामक द्वन्द्वों से विमुक्त हो जाते हैं। स्वयंप्रकाश परमपद को सूर्य, चन्द्र, अग्नि आदि प्रकाशित नहीं कर सकते। वही परमेश्वर का धाम है। इन सूर्य, चन्द्र व अग्नि में जो तेज है, वह उसी परमेश्वर का है। प्राणियों के शरीर क्षर, जीवात्मा अक्षर तथा अविनाशी परमेश्वर पुरुषोत्तम हैं।

3.4.16 दैवासुरसम्पद् विभाग योग- इस अध्याय में 24 श्लोक हैं, जिनमें दैवी आसुरी सम्पत्तियों का वर्णन किया गया है। निर्भयता, निर्मलता, दान, इन्द्रिय-दमन, भगवान्, देव तथा गुरुजनों की पूजा, वेद शास्त्रों का पठन-पाठन, भगवन्नामकीर्तन रूप स्वाध्याय, तप, अन्तःकरण की सरलता, लोक व शास्त्र विरुद्ध आचरण में लज्जा, तेज, क्षमा, धैर्य, शुचिता, शत्रुभाव का अभाव आदि दैवीसम्पदा कहलाती हैं। दम्भ, अभिमान, क्रोध, कठोरता, अज्ञान आदि आसुरी सम्पदा कहलाती हैं। काम, क्रोध, लोभ इनको नरकद्वार कहा है। शास्त्रानुकूल व्यवहार करना तथा विपरीत व्यवहार का त्याग करना चाहिए।

3.4.17 श्रद्धात्रय विभाग योग- इस अध्याय में 28 श्लोक हैं जिनमें सात्विक, राजसी व तामसी श्रद्धा का वर्णन किया गया है। शास्त्रविपरीत घोर तप करने वालों का वर्णन, आहार, यज्ञ, तप व दान के पृथक् भेदों का वर्णन किया गया है। सात्विक पुरुष देवों को, राजस् राक्षसों-यक्षों को तथा तामस भूत-प्रेतों को पूजते हैं। जो दम्भ, कामना आदि से तप करते हैं, वे असुर स्वाभाव होते हैं। आहार भेद भी सात्विक आदि भेद से तीन प्रकार का तथा यज्ञ, तप, दान भी तीन प्रकार के होते हैं। जो जैसी वृत्ति रखता है, वह वैसा ही प्रकार अपनाता है।

3.4.18 मोक्ष संन्यास योग- इस अध्याय में 78 श्लोक हैं। इसमें त्याग, सांख्य-सिद्धान्त, वर्णधर्म, पराभक्ति, निष्काम कर्मयोग तथा शरणागति का वर्णन किया गया है। यज्ञ, दान व तप त्याज्य कर्म नहीं हैं, अतः इन्हें अवश्य करना चाहिए। कर्मफल का त्याग करना उचित है। कर्मों की सिद्धि में सांख्य शास्त्र ने पाँच हेतु बताए हैं- अधिष्ठान (शरीर), कर्ता (जीवात्मा), करण (इन्द्रियाँ), चेष्टाएं तथा दैव। ज्ञान-अज्ञान, कर्तव्याकर्तव्य में भेद करने वाली बुद्धि सात्विक, ठीक-ठीक न जानने वाली बुद्धि राजसी, तथा केवल अज्ञान, अधर्म को ही ठीक समझने वाली बुद्धि तामसी कहलाती है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र के स्वाभाविक धर्म कहे गए हैं। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि 'हे अर्जुन! तू मुझमें मन वाला हो, मेरा भक्त हो, मेरा ही पूजन कर, मुझे ही प्रणाम कर। सब धर्मों का त्याग करके केवल मुझ परमेश्वर की शरण में आ जा। मैं सब पापों से मुक्त कर दूंगा। शोक मत कर'। अर्जुन कहते हैं कि हे परमेश्वर! मेरा मोह नष्ट हो गया है, स्मृति प्राप्त हो गई तथा संशयरहित हो गया हूँ। अब आपके आदेशानुसार कार्य करूँगा।

इस प्रकार गीता का यह अन्तिम अध्याय पूर्ण होता है। अपने भक्त को भगवान् सब प्रकार से रक्षा करते हैं तथा तत्वज्ञान भी उन्हीं की कृपा से प्राप्त होता है। ऐसी इस अध्याय के अन्त में घोषणा की गई है।

अभ्यास प्रश्न

4. एक शब्द में उत्तर दीजिए –

क. भगवदगीता में कुल कितने अध्याय है।

ख. महाभारत में किस पर्व में भगवदगीता का वर्णन मिलता है।

ग. भगवदगीता में कुल कितने श्लोक है।

घ. श्रीमदभगवद गीता के दूसरे अध्याय का क्या नाम है।

3.5 हठयोग प्रदीपिका का सामान्य परिचय

इस ग्रन्थ के रचयिता स्वामी स्वात्माराम योगी हैं। इन्होंने हठयोग के चार अंगों का मुख्यतया वर्णन किया है-

इन्हीं को चार अध्यायों में बांटा गया है। कैवल्यधाम लोनावला से प्रकाशित 'हठप्रदीपिका' में पाँचवा अध्याय 'योग चिकित्सा' से संबन्धित दिया गया है। हठयोग के अंगों में घेरण्डसंहिताकार सप्तांग की बात करते हैं- षट्कर्म, आसन, प्राणायाम, मुद्रा, प्रत्याहार, ध्यान, समाधि। यहाँ स्वात्माराम योगी द्वारा बताए गए चार अंगों पर विचार किया जा रहा है-

3.5.1 आसन- ''हठस्य प्रथमांगत्वादासनं पूर्वमुच्यते''

कहकर योगी स्वात्माराम ने प्रथम अंग के रूपमें आसन का वर्णन किया है। इन आसनों का उद्देश्य स्थैर्य, आरोग्य तथा अंगलाघव बताया गया है-

'कुर्यात्तदासनं स्थैर्यमारोग्यं चांगलाघवम्। g- iz- 1@17

आसनों के अभ्यास से साधक के शरीर में स्थिरता आ जाती है। चंचलता समाप्त हो जाती है, लचीलापन आता है, आरोग्यता आ जाती है, शरीर हल्का हो जाता है। हठयोगप्रदीपिका में पन्द्रह आसनों का वर्णन किया गया है-

1. स्वस्तिकासन, 2. गोमुखासन, 3. वीरासन, 4. कूर्मासन, 5. कुक्कुटासन, 6. उत्तानकूर्मासन, 7. धनुरासन, 8. मत्स्येन्द्रासन, 9. पश्चिमोत्तानासन, 10. मयूरासन, 11. शवासन, 12. सिद्धासन, 13. पद्मासन, 14. सिंहासन, 15. भद्रासन।

3.5.2 प्राणायाम- हठयोग प्रदीपिका में कहा गया है कि-

चले वाते चलं चित्तं निश्चले निश्चलं भवेत्।

योगी स्थाणुत्वमाप्नोति ततो वायुं निरोधयेत्।। g-iz-2@3

वायु के चलने पर चित्त भी चंचल बना रहता है तथा वायु के निश्चल होने पर चित्त भी निश्चल हो जाता है। योगी स्थिरता प्राप्त कर लेता है। इसलिए प्राणायामइ का अभ्यास साधना के लिए बहुत ही उपयोगी है। इसी प्रकार हठयोग प्रदीपिका में ही कहा गया है-

यावद् वायुः स्थितो देहे तावज्जीवनमुच्यते।
मरणं तस्य निष्क्रान्तिस्ततो वायुं निरोधयेत्।। g-iz- 2@3

जब तक शरीर में वायु स्थित है, तभी तक जीवन है। जब श्वास निकल जाता है तो मृत्यु हो जाती है। अतः प्राणायामका अभ्यास करके वायु को रोकने का प्रयास करना चाहिए।

प्राणायाम के लिए कहा गया है कि जैसे धातुओं के मल अग्नि द्वारा नष्ट कर दिए जाते हैं, वैसे ही प्राणायाम द्वारा इन्द्रियों के दोषों को नष्ट किया जा सकता है-

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्।। मनुस्मृति 6@71

हठप्रदीपिका में प्राणायाम के आठ भेद बताए गए हैं

सूर्यभेदनमुज्जायी सीत्कारी शीतली तथा।
भस्त्रिका भ्रामरी मूर्च्छा प्लाविनीत्यष्टकुम्भकाः।। g-iz- 2@44

अर्थात् सूर्यभेदन, उज्जायी, सीत्कारी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्च्छा तथा प्लाविनी- ये आठ कुम्भक हैं। सूर्यभेदन शरीर में उष्मा का संचार करते है जबकि सीत्कारी व शीतली शीतलता का संचार करने वाले हैं। भस्त्रिका त्रिदोषहरण करने वाला है। उज्जायी तथा नाड़ीशोधन शरीरक्रिया को संतुलित करने वाले हैं। भ्रामरी एकाग्रता व ध्यान के लिए उपयोगी है। मूर्च्छा तथा प्लाविनी का अभ्यास सामान्य स्थिति में नहीं करना चाहिए।

3.5.3 मुद्रा एवं बन्ध- हठयोग का मुख्य उद्देश्य कुण्डलिनी जागरण तथा उसके द्वारा राजयोग में प्रविष्ट होना है। मुद्रा कुण्डलिनी जागरण के लिए उपयुक्त साधन है। हठयोग प्रदीपिका में दस मुद्राओं (बंधसहित) का वर्णन उपलब्ध है-

महामुद्रा महाबन्धो महावेधश्च खेचरी।

उड्डीयानं मूलबन्धस्ततो जालंधराभिधः।।

करणी विपरीताख्या वज्रोलीशक्तिचालनम्।

इदं हि मुद्रा दशकं जरामरणनाशनम्।। ह.प्र. **3@6&7**

अर्थात् महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, उड्डीयान बन्ध, मूलबन्ध, जालंधर बन्ध, विपरीत करणी, वज्रोली, शक्तिचालिनी- ये दस मुद्राएं साधक के बार्द्धक्य तथा मृत्यु का नाश करने वाली हैं। बन्धों का प्रयोग किए बिना प्राणायाम नहीं हो सकता तथा कुण्डलिनी जागरण के लिए प्राणायाम की अनिवार्यता है। अतः बन्धों का प्रयोग महत्त्वपूर्ण है।

3.5.4 नादानुसंधान- नाद**$**अनुसंधान का अर्थ है- नाद का अनुसंधान करना। नाद दो प्रकार के होते हैं- आहत और अनाहत। आहतनाद जो लोकप्रचलित है- तबला, सारंगी, हारमोनियम, ढोलक, मंजीरा, वीणा आदि, जो आघात देकर बजाए जाते हैं। ये संगीत के लिए उपयोगी हैं। अनाहत नाद है- जो साधक को साधना में अपने अन्दर से ही सुनाई पड़ते हैं। इनको पहले स्थूल पर ध्यान लगाने का प्रयास करना चाहिए तथा धीरे-धीरे स्थूल को छोड़कर सूक्ष्म पर ध्यान लगाएं। यही एकाग्रता समाधि की स्थिति प्रदान करने वाली है। मन का लय होने पर नादानुसंधान का कार्य पूर्ण हो जाता है। प्रथम तो नाना प्रकार के नाद सुनाई पड़ते हैं। अभ्यास दृढ़ होने पर सूक्ष्म से सूक्ष्मतर नाद सुनाई पड़ने लगते हैं। पहले सागर, बादल, भेरी, झरना आदि मध्य में नफीरी आदि मृदुध्वनि तथा अन्त में किंकिणी, बांसुरी, वीणा, भौंरे की ध्वनि आदि अनेक प्रकार की सूक्ष्म ध्वनियाँ सुनाई पड़ती हैं। सूक्ष्म से स्थूल तथा स्थूल से सूक्ष्म पर जाने का अभ्यास करते-करते यह सूक्ष्म से सूक्ष्म पर जाएगा तो ध्यान की स्थिति दृढ़ होगी। समाधि की स्थिति प्राप्त होने पर कुण्डलिनी जागरण की स्थिति स्वतः आ जाएगी तथा साधना में सफलता प्राप्त हो जाएगी। नादानुसंधान की निम्न अवस्थाएं कही गई हैं-

आरम्भावस्था-इसमें ब्रह्मग्रन्थि का भेदन होता है।

घटावस्था- इसमें विष्णुग्रन्थि का भेदन होता है।

परिचयावस्था- इसमें रुद्र ग्रन्थि का भेदन होता है।

निष्पत्ति अवस्था- इसमें सहस्रार का द्वार खुल जाता है।

इस प्रकार चारों अवस्थाओ से होता हुआ साधक लक्ष्य की प्राप्ति में समर्थ होता है।
नादानुसंधान के अन्तर्गत ही स्वामी स्वात्माराम कुण्डलिनी तथा समाधि का वर्णन भी करते हैं-

(क) कुण्डलिनी –

कुटिलांगी कुण्डलिनी भुजंगी शक्तिरीश्वरी।
कुण्डल्यरुन्धाती चैते शब्दाः पर्यायवाचकाः।।ह.प्र. **3@10**

कन्दोर्ध्वं कुण्डली शक्तिः सुप्तामोक्षाय योगिनाम्।
बन्धनाय च मूढ़ानां यस्तां वेत्ति स योगवित्।। ह.प्र. **3@103**

उद्घाटयेत् कपाटं तु यथा कुंचिकया हठात्।

कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत्।।

येन मार्गेण गन्तव्यं ब्रह्मस्थानं निरामयम्।
मुखेनाच्छाद्यं तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी।। ह.प्र. **3@101&102**

अर्थात् कुटिलांगी, कुण्डलिनी, भुजंगी, शक्ति, ईश्वरी, कुण्डली, अरुंधती ये सभी शब्द पर्यायवाची हैं। कन्दोर्ध्व (मूलाधार चक्र के पास) कुण्डलिनी शक्ति सोई हुई है जो अज्ञानियों के लिए बन्धन का कारण हैं तथा योगियों के लिए मोक्ष का कारण हैं। जो उसे जान लेता है, वही योगी कहलाता है।

जिस प्रकार चाबी के द्वारा आसानी से ताला खोल लिया जाता है, उसी प्रकार योगी कुण्डलिनी शक्ति को जगाकर मोक्ष द्वार को खोल देता है जिससे ब्रह्म स्थान को बिना किसी बाधा के पहुँचा जा सकता है क्योंकि उसी द्वार को ढककर कुण्डलिनी सोई हुई है।

(ख) समाधि –

सलिले सैन्धवं यद्वत् साम्यं भजति योगतः।

तथात्ममनसोरैक्यं समाधिरभिधीयते।।

यदा संक्षीयते प्राणो मानसं च प्रलीयते।

तदा समरसत्वं च समाधिरभिधीयते।।

तत्समं च द्वयोरैक्यं जीवात्मपरमात्मनोः।
प्रनष्टः सर्व संकल्पः समाधि सोऽभिधीयते।। ह.प्र.**4@5&7**

अर्थात् जैसे नमक व जल दोनों मिलकर एक हो जाते हैं, एक रूप होकर द्वैत समाप्त हो जाता है। उन्हें अलग नहीं किया जा सकता है। उसी प्रकार आत्मा व मन की एकता समाधि कही जाती है। प्राण क्षीण होकर मनलीन हो जाने पर समरसता की स्थिति समाधि है। जीवात्मा व परमात्मा की एकता समाधि कही जाती है।

इस प्रकार स्वामी स्वात्माराम योगी ने जो ग्रन्थारम्भ में घोषणा की थी कि-

'केवलं राजयोगाय हठविद्योपदिश्यते।'

उसी के अनुसार समाधि तक के लक्ष्य को प्राप्त करने के उद्देश्य से हठप्रदीपिका की रचना की गई है।

3. अभ्यास प्रश्न

5. एक शब्द में उत्तर दीजिए

क. हठप्रदीपिका के रचयिता कौन है।

ख. हठयोगप्रदीपिका में कुल कितने आसनों का वर्णन है।

ग. हठप्रदीपिका में प्राणायाम के कितने प्रकार बताये है।

घ. हठप्रदीपिका में प्राणायाम को क्या कहा है।

3.6 घेरण्ड संहिता का सामान्य परिचय

महर्षि घेरण्ड और चण्डिकापालि के संवाद-रूप में रचित घेरण्ड-संहिता महर्षि घेरण्ड की अनुपम कृति है। इस के योग को घटस्थ योग या सप्तांग योग कहा गया है। इसके सात अध्यायों में सात अंगों की चर्चा की गई है जो घटशुद्धि के लिए आवश्यक हैं- शोधनं दृढता चैव स्थैर्यं धैर्यं च लाघवम्।

प्रत्यक्षं च निर्लिप्तं च घटस्य सप्तसाधनम्।। घे.सं. **0@9**

शोधन, दृढ़ता, स्थिरता, धीरता, लघुता, प्रत्यक्ष तथा निर्लिप्तता- शरीर-शोधन के लिए सात साधन कहे गए हैं। इन सातों के लिए उपायरूप में सात साधनों को कहा गया है-

षट्कर्मणा शोधनं च आसनेन् भवेद्दृढ़म्।

मुद्रया स्थिरता चैव प्रत्याहारेण धीरता।।

प्राणायामाँल्लाघवं च ध्यानात्प्रत्क्षमात्मान:।
समाधिना निर्लिप्तिं च मुक्तिरेव न संशय।। घे.सं. **0@10&11**

अर्थात् षट्कर्मों से शोधन, आसन से दृढ़ता, मुद्रा से स्थिरत, प्रत्याहार से धीरता, प्राणायाम से लघुता, ध्यान से आत्मसाक्षात्कार तथा समाधि से निर्लिप्तभाव प्राप्त करके मुक्ति अवश्य ही हो जाएगी, इसमें सन्देह नहीं है।

3.6.1 षट्कर्म- धौति, वस्ति, नेति, नौलि, त्राटक व कपालभाति- ये षट्कर्म घेरण्ड की भी मान्यता है किन्तु इनके भेद करके इनकी संख्या बढ़ा दी है। जैसे-

धौति- अन्तधौति, दन्तधौति, हृद्धौति तथा मूलशोधन चार प्रकार कहे हैं। फिर अन्तधौति के चार प्रकार- वातसार, वारिसार, अग्निसार, व बहिष्कृत। दन्तधौति के चार प्रकार- दन्तमूल, जिह्वामूल, कर्णरन्ध्र कपालरन्ध्र। हृद्धौति के तीन प्रकार हैं- दण्ड, वमन, वस्त्र कहे गए हैं। मूलशोधन का कोई भेद नहीं है। वस्ति के दो भेद जलवस्ति व स्थलवस्ति, नेति के रूप में सूत्रनेति, कपालभाति के तीन भेद- वात्क्रम, व्युत्क्रम व शीत्क्रम कहे गए हैं। नौलि व त्राटक के कोई भेद नहीं हैं।

3.6.2 आसन- आसनों के रूप में 32 आसनों का वर्णन किया गया है- सिद्धासन, पद्मासन, भद्रासन, मुक्तासन, वज्रासन, स्वस्तिकासन, सिंहासन, गोमुखासन, वीरासन, धनुरासन, मृतासन (शवासन), गुप्तासन, मत्स्यासन, मत्स्येन्द्रासन, गोरक्षासन, पश्चिमोत्तान आसन, उत्कटासन, संकटासन, मयूरासन, कुक्कुटासन, कूर्मासन, उत्तानकूर्मासन, मण्डूकासन, उत्तानमण्डूकासन, वृक्षासन, गरुडासन, वृषासन या वृषभासन, शलभासन, मकरासन, उष्ट्रासन, भुजंगासन, योगासन।

3.6.3 मुद्रा व बन्ध- घेरण्डसंहिता में 25 मुद्राओं का वर्णन किया गया है- मूलबन्ध, जालन्धर बन्ध, उड्डीयानबन्ध, महाबन्ध, पार्थिवी धारणा, आम्भसी धारणा, आग्नेयी धारणा, वायवीय धारणा, आकाशीधारणा, महामुद्रा, नभोमुद्रा, खेचरीमुद्रा, महावेध मुद्रा, विपरीतकरणी मुद्रा, योनिमुद्रा, वज्रोली मुद्रा, शक्तिचालिनी मुद्रा, तड़ागी मुद्रा, माण्डुकीमुद्रा, शाम्भवी मुद्रा, अश्विनी मुद्रा, पाशिनी मुद्रा, काकी मुद्रा, मातंगिनी मुद्रा, भुजंगिनी मुद्रा।

3.6.4 प्रत्याहार- घेरण्ड संहिता में कहा है-

यतो यतो निश्चरति मनश्चंचलमस्थिरम्।

ततस्ततो नियम्यैतद् आत्मन्येव वशं नयेत्।। घे. सं. **4@2**

चंचल मन को नियन्त्रित करने के लिए इन्द्रियों को नियन्त्रित करना परमावश्यक है। इन्द्रियों का नियन्त्रण ही प्रत्याहार है।

3.6.5 प्राणायाम- प्राण के नियन्त्रण से मन नियन्त्रित होता है। अतः प्राणायाम की आवश्यकता बताई गई है। हठयोगप्रदीपिका की भांति प्राणायामों की संख्या इसमें भी आठ बताई गई है किन्तु दोनों में थोड़ा अन्तर है। घेरण्डसंहिता में कहा गया है-

सहितः सूर्यभेदश्च उज्जायी शीतली तथा।

भस्त्रिका भ्रामरी मूर्च्छा केवली चाष्टकुम्भका।। घे.सं**0 5@46**

सहित, सूर्य भेदन, उज्जायी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्च्छा तथा केवली- ये आठ कुम्भक (प्राणायाम) कहे गए हैं। इनके अभ्यास के लिए उपर्युक्त योगमठ कैसा होना चाहिए यह भी वर्णन किया गया है।

3.6.6 ध्यान- घेरण्डसंहिता में ध्यान के तीन प्रकार बताए गए हैं-

स्थूलं ज्योतिस्तथा सूक्ष्मं ध्यानस्य त्रिविधं विदुः।

स्थूलं मूर्तिमयं प्रोक्तं ज्योतिस्तेजोमयं तथा।

सूक्ष्मं बिन्दुमयं ब्रह्म कुण्डली पर देवता।। घे.सं. **6@1**

(क) स्थूल ध्यान- हृदय या सहस्रार चक्र में गुरु या इष्ट देव के वाहन, आभूषण सहित ध्यान को स्थूल ध्यान कहा गया है।

(ख) ज्योतिर्ध्यान- मूलाधार में आत्मा का निवास है। वहाँ तेजोमय ब्रह्म का ध्यान किया जाता है। भ्रूमध्य में प्रकाश पुंज के रूप में प्रणव की स्थिति मानी गई है। वहां भी ध्यान करना ज्योतिध्यान कहलाता है। इसी को प्रणव ध्यान भी कहते हैं।

(ग) सूक्ष्म ध्यान- शाम्भवी मुद्रा में कुण्डलिनी शक्ति के ध्यान को सूक्ष्म ध्यान कहा गया है।

3.6.7 समाधि- घेरण्डसंहिता में समाधि के छह भेद कहे गए हैं-

- ध्यान योग समाधि-शाम्भवी मुद्रा से यह सिद्ध होती है।
- नाद योग समाधि- भ्रामरी प्राणायाम के अभ्यास से सिद्ध होती है।
- रसानन्द योग समाधि- खेचरी मुद्रा के अभ्यास से सिद्ध होती है।
- लयसिद्धि योग समाधि- यह योनि मुद्रा से सिद्ध होती है।
- भक्तियोग समाधि- अनन्यश्रद्धा व अनन्य प्रेम से यह समाधि सिद्ध होती है।
- राजयोग समाधि- मन के नियन्त्रण से सिद्ध होती है।

इस प्रकार साधनभूत सप्तांगों का वर्णन करके घेरण्ड ऋषि ने अपना उद्देश्य मुक्ति के लक्ष्य को प्रस्तुत किया है।

अभ्यास प्रश्न

6. एक शब्द में उत्तर दीजिए :-

क. घेरण्ड ऋषि ने किस राजा को सर्वप्रथम हठयोग की शिक्षा दी।

ख. घेरण्ड संहिता में कुल कितने अध्याय है।

7. सत्य/असत्य बताइये :-

क. घेरण्ड संहिता में 15 आसनों का वर्णन मिला है।

ख. घेरण्ड संहिता के प्रथम अध्याय में षटकर्मों का वर्णन मिलता है।

ग. घेरण्ड संहिता में समाधि के 6 भेद बताये है।

घ. घेरण्ड संहिता में 20 मुद्राओं का वर्णन मिला है।

ड. सीत्कारी प्राणायाम का वर्णन घेरण्ड संहिता में मिलता है।

3.7 सारांश

योग के अनेकानेक अभ्यासों का वर्णन अनेकानेक ग्रन्थों में मिलता है। महर्षि पतंजलि द्वारा प्रतिपादित योगसूत्र की विषयवस्तु अगर देखे तो महर्षि पतंजलि ने बड़े रोचक ढंग से योग की प्रमाणिकता मनोवैज्ञानिकता द्वारा दाशर्निक चिन्तन को प्रतिपादति किया है। उत्तम, मध्यम व अधम कोटि के साधको के लिए क्रमश: अभ्यास वैराग्य क्रियायोग तथा अष्टांगयोग की साधना जन्मानस के लिए दी है। भगवदगीता में तो योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण ने अपने प्रिय शिष्य अर्जुन को ज्ञानयोग, कर्मयोग, आत्मसंयमयोग, ज्ञानविज्ञान योग के साथ-साथ यह कहा है कि हे अर्जुन, तू मुझमें मन वाला हो, मेरा भक्त त्याग करके केवल मुझ परमेश्वर की शरण में आ जा। मैं सब पापों से तुझे मुक्त कर दूगॉ। हठयोगप्रदीपिका में जहॉं एक ओर हठयोग के अभ्यासों का (आसन, प्राणायाम, मुद्रा-बंध) का वर्णन स्वात्माराम जी ने किया है वही दूसरी आरे महर्षि घेरण्ड ने सात अध्याओं में हठयोग की सुदीर्घ व्याख्या की है।

3.8 शब्दावली

कैवल्य- समाधि, मोक्ष, मुक्ति

पंच चित्तवृत्ति – प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा, स्मृति

प्रज्ञा -	बुद्धि
व्याधि -	रोग
स्त्यान -	अर्कमण्यता, काम ना करने की इच्छा
विरति -	वैराग्य, बिना राग वाला
अंगमेजयत्व -	अंगों का कम्पन
एकतत्वाभ्यास -	एकतत्व अर्थात ईश्वर
मुदिता -	प्रसन्नता
वीतराग -	राग द्वेश समाप्त वाला साधक
यथाभिमत -	जिसको जैसा अभिमत हो
समाप्ति -	समाधि, कैवल्य

ईश्वर प्राणिधान -	सर्वत्र ईश्वर का बोध
ताप -	दु:ख
महत् -	बुद्धि
हेय -	संसार
हेयहेतु -	अविद्या
हान -	मोक्ष का उपायभूत
दृष्टा -	आत्मा
दृश्य -	प्रकृति
भूत -	संसार
योगांग -	यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि
प्रत्याहार -	इन्द्रिय संयम
शुक्ल -	पुण्य
कृष्ण -	पाप
अशुक्लाकृष्ण -	पुण्य पाप रहित
पराकाष्ठा -	अन्तिम स्थिति
परमपद -	अन्तिम पद अर्थात समाधि की प्राप्ति
अधिष्ठान -	शरीर
कर्ता -	जीवात्मा
करण -	इन्द्रिय
तत्वज्ञान -	आत्मा का ज्ञान
स्थैर्य -	स्थिरता
लाघव -	हल्कापन
कुण्डलिनी -	एक सुप्त शक्ति, जिसके पर्यायवाची है – भुजंगी, ईश्वरी, अरूंधती, कुटिलांगी।

धौति - धोना, सफाई करना

सार - तत्व

3.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1.

क. महर्षि पतंजलि ख. चार ग. 51 घ. समाधि प्रज्ञा

2.

क. असत्य ख. असत्य ग. असत्य घ. सत्य

3.

क. अ ख. स

4.

क. 18 ख. भीष्म ग. 700 घ. साख्य योग

5. क. स्वात्माराम सुरी ख. 15 ग. 8 घ. कुम्भक

6. क. राजा चण्डिकापालि ख. 7

7. क. असत्य ख. सत्य ग. सत्य घ. असत्य ड. असत्य

3.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. महर्षि पतंजलि – पातंजल योग सूत्र (2001) – गीता प्रेस गोरखपुर

2. महर्षि व्यास – (2003) भगवद्गीता- गीताप्रेस गोरखपुर

3. स्वात्मा राम सुरी (2001) हठप्रदीपिका कैवल्यधाम श्रीमन्माधव योग, मन्दिर समिति लोनावाला

4. महर्षि घेरण्ड - घेरण्ड संहिता (2003) कैवल्यधाम लोनावाला

3.11 निबंधात्मक प्रश्न

1. योगसूत्र के साधनपाद की विषयवस्तु पर प्रकाश डालिए।

2. भगवदगीता की विषयवस्तु को स्पष्ट कीजिए।

3. हठप्रदीपिका के वर्ण्य विषयों को सविस्तार समझाइये ।

4. घेरण्ड संहिता में वर्णित सप्त साधनों की सुदीर्घ व्याख्या कीजिए।

इकाई- 4 ज्ञानयोग एवं कर्मयोग

4.1 प्रस्तावना

4.2 उद्देश्य

4.3 ज्ञानयोग

4.3.1 वहिरंग साधना

4.3.2 अंतरंग साधना

4.4 कर्मयोग

4.4.1 कर्म के भेद

4.4.2 गीता के अनुसार कर्म

4.4.3 योगसूत्र के अनुसार कर्म

4.4.4 वेदान्त के अनुसार कर्म

4.5 सारांश

4.6 शब्दावली

4.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

4.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

4.9 निबंधात्मक प्रश्न

4.1 प्रस्तावना

वर्तमान में योग की अनेको पद्धतियॉं प्रचलित है। सभी पद्धतियों के मूल में एक ही भाव अन्तर्निहित है कि आत्मकल्याण कर परमलक्ष्य को प्राप्त करना। इस संसार में प्रचलित मत-मतान्तरों व दार्शनिक-सम्प्रदायों में विभिन्नता होने के कारण सबने अपने अलग-अलग मार्ग चुन लिए तथा प्रकारान्तर में एक सम्प्रदाय उस साधना पद्धति के लिए तैयार कर दिया। यह सर्वविदित है कि इस संसार में सबकी रूचि एक जैसी नहीं होती। अत: जो व्यक्ति या साधक जिस साधना पद्धति को सरलता से ग्रहण कर सके वही अपनाना उचित होगा। यही विचार योग की विभिन्न पद्धतियों के मूल में निहित प्रतीत होता है। पाठकों जिस प्रकार समुद्र में सारी नदियॉं समाहित होकर एक हो जाती है उसी प्रकार ज्ञान, कर्म, भक्ति, राजयोग इत्यादि नदियॉं उस परम ब्रहम में एकाकार हो जाती है उस परम ब्रहम में एकाकार होने का नाम ही योग है।

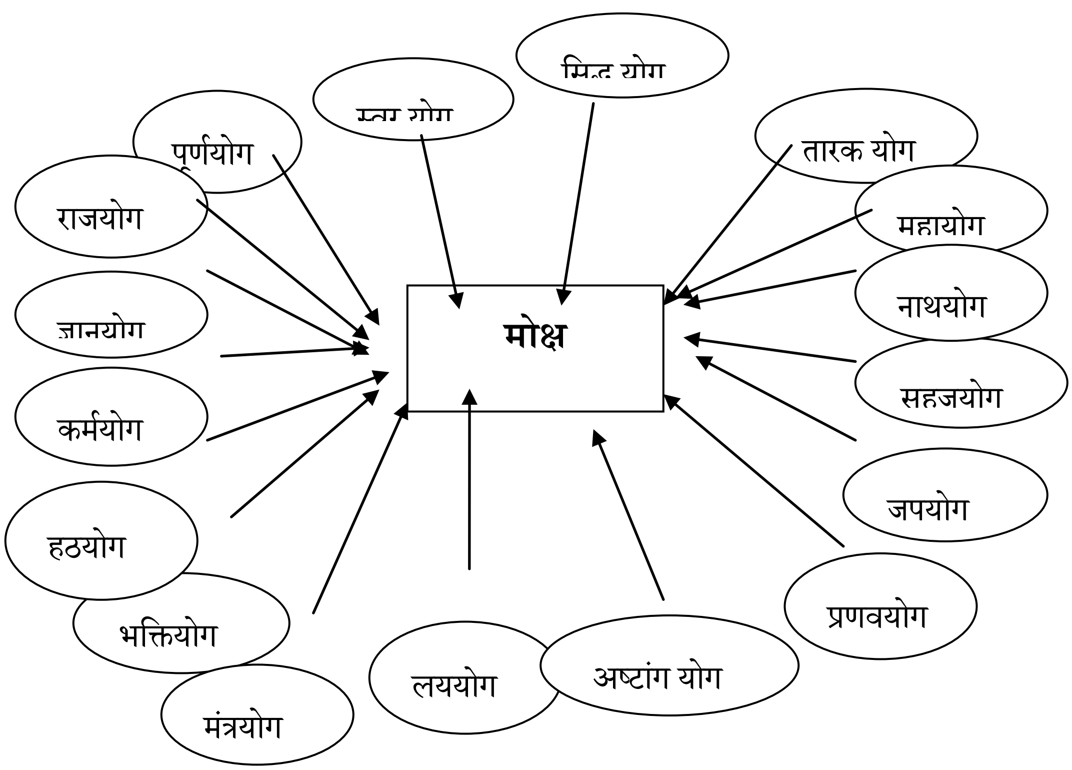

4.2 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य आपको योग की दो परम्पराओं ज्ञानयोग एवं कर्मयोग की संक्षिप्त जानकारी देना है। प्रस्तुत इकाई का अध्ययन कर लेने के बाद आपको निम्नलिखित तथ्यों का ज्ञान हो जायेगा।

- ज्ञानयोग योग की महत्वपूर्ण शाखा है।
- ज्ञानयोग के दो महत्वपूर्ण साधन है।
- कर्मयोग से भी समाधि सिद्धि की जा सकती है।
- कर्म संस्कारों के विद्यमान रहते मनुष्य को कैवल्य की प्राप्ति नहीं हो सकती ।

4.3 ज्ञानयोग

ज्ञान व विज्ञान की धारायें वेदों में व्याप्त है सभी धर्मो के मूल वेद ही हैं। वेद का अर्थ ज्ञान के रूप में लेते है 'ज्ञान' अर्थात् जिससे व्यष्टि व समष्टि के वास्तविक स्वरूप का बोध होता है। ज्ञान, विद् धातु से व्युत्पन्न शब्द है जिसका अर्थ किसी भी विषय, पदार्थ आदि को जानना या अनुभव करना होता है। ज्ञान की विशेषता व महत्त्व के विषय में बतलाते हुए कहा गया है-

"ज्ञानाग्नि सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा"

अर्थात् जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि ईंधन को भस्म कर देती है उसी प्रकार ज्ञान रूपी अग्नि, कर्म रूपी ईंधन को भस्म कर देती है। ज्ञानयोग साधना पद्धति, ज्ञान पर आधारित होती है इसीलिए इसको ज्ञानयोग की संज्ञा दी गयी है। ज्ञानयोग पद्धति में योग का बौद्धिक और दार्शनिक पक्ष समाहित होता है।

ज्ञानयोग 'ब्रह्मसत्यं जगतमिथ्या के सिद्धान्त के आधार पर संसार में रह कर भी अपने ब्रह्मभाव को जानने का प्रयास करने की विधि है। जब साधक स्वयं को ईश्वर (ब्रह्म) के रूप में जान लेता है- 'अहं ब्रह्मास्मि' का बोध होते ही वह बंधनमुक्त हो जाता है। उपनिषद मुख्यतया इसी ज्ञान का स्रोत हैं। ज्ञानयोग साधना में अभीष्ट लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए सर्वप्रथम शरीर व मन को महत्व दिया गया है। ज्ञान योग के दो महत्वपूर्ण साधन है। ज्ञानयोग के साधनों को स्वामी विज्ञानानन्द सरस्वती ने इस प्रकार बताया है।

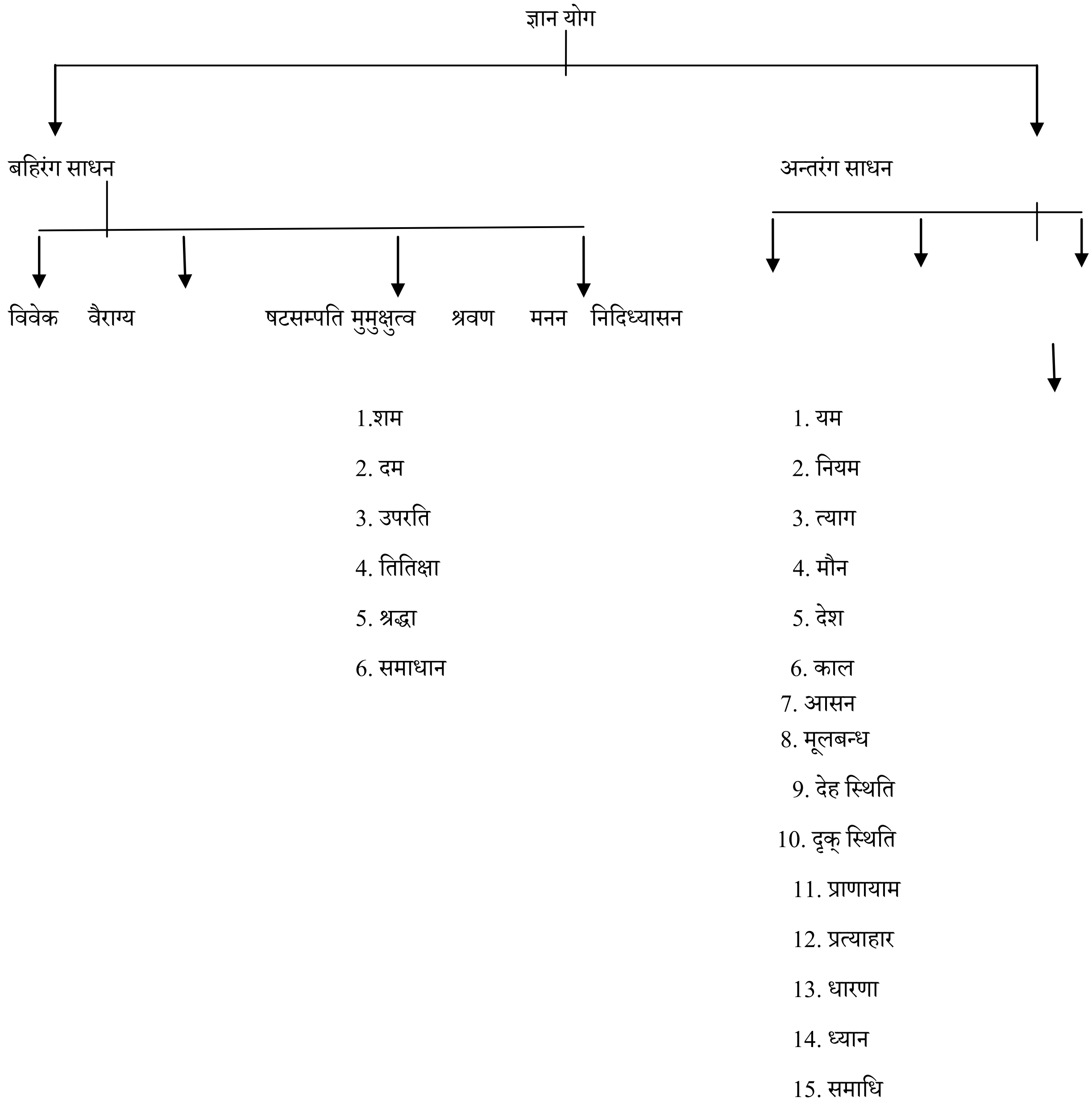

4.3.1 बहिरंग साधन :- बहिरंग का अर्थ है बाहर के या प्रारम्भिक। ज्ञान योग के निम्न 4 प्रारंभिक साधन बताये है।

क. विवेक :- विवेक एक जाना-पहचाना शब्द है नित्य और अनित्य का ज्ञान ही विवेक है साधक यदि विवेकानुसार कार्य करता है तो समझ लेना चाहिए कि उसे ज्ञान की प्राप्ति हो गई। व्यक्ति अज्ञान के कारण ही अनित्य कर्म करता है और जिस कारण जन्म जन्मान्तरों तक उसके फलों का भोग करना पड़ता है। आचार्य रामानुजाचार्य खाद्य तथा अखाद्य के विवेक पर बल देते हैं। भोजन के दोषों को मध्यनजर रखते हुए ही खाद्य पदार्थो का सेवन करना चाहिए तभी व्यक्ति अपने अभिष्ठ की प्राप्ति कर सकता है। व प्रिय पाठकों स्मरण रखने योग्य बात है तामसिक वस्तुओं का सेवन शरीर व मन दोनों के लिए अच्छा

नहीं है, इनके सेवन से कभी भी परमात्मा का मिलन नहीं हो सकता। ध्यान रहे जिस व्यक्ति ने विवेक का सहारा लिया उसका पतन कभी नहीं हो सकता। अभी तक अपने इस लौकिक संसार के प्रति विवेक को समझा अध्यात्मिक तथा यौगिक दृष्टि के अनुसार नित्य व अनित्य का ज्ञान विवेक है। नित्य वस्तु एकमात्र ब्रहम है, ब्रहम के अलावा समस्त संसार झूठा है। कहा भी गया है कि

'ब्रहमसत्यं जगतमिथ्या'

ख. वैराग्य :- भारतीय चिन्तन में वैराग्य एक जाना-पहचाना शब्द है। जिस व्यक्ति को कोई राग नहीं वह वैराग्य है। तथा चाह व्यक्ति को दो प्रकार की हो सकती है –

1. इस संसार के ऐश्वर्यो की
2. स्वर्गीय सुख भोगों को भोगने की

असली वैराग्य वह है जो इन दोनों इच्छाओं से परे हो। अर्थात् इस लोक और स्वर्ग आदि लोकों के भोगों की इच्छा का परित्याग कर देना वैराग्य है।

ग. षट सम्पत्ति :- षट् का अर्थ है छ: और सम्पत्ति का अर्थ है साधन ये इस प्रकार है।

1. शम :- शम का अर्थ है इन्द्रियों का निग्रह कर लेना। मनुष्य की 11 इन्द्रियॉं मानी जाती है जिसमें 5 ज्ञानेन्द्रिय 5 कर्मेन्द्रिय और एक मन। वैसे शम का अर्थ इन्द्रिय के निग्रह के रूप में लेते है परन्तु मन एक ऐसी इन्द्रिय है जो स्वभाव से बड़ी चंचल है वायु से भी तेज गति से चलती रहती है इस इन्द्रिय पर नियन्त्रण करना मुश्किल जरूर पर असम्भव नहीं हैं। कहा गया है।

शमो नाम अन्तरिन्द्रिनिग्रह:

अन्तरिन्द्रिय नाम मन:

तस्य निग्रह: ।।

इसलिए शम का तात्पर्य है इस अन्तरिन्द्रिय मन का निग्रह कर लेना।

भगवद् गीता में कहा है –

असंशयं महावाहों मनोदुर्निग्रहं चलम्।

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येन च गृहृाते

अर्थात

हे महाबाहो अर्जुन। निश्चय ही मन बड़ा चंचल है परन्तु अभ्यास और वैराग्य द्वारा इसे वश में किया जाता है।

योगसूत्र में भी चित्त की वृत्तयों के निरोध के लिए अभ्यास व वैराग्य नामक दो साधनाये बताई गयी है।

2. दम:- दम का अर्थ है दमन करना 10 इन्द्रियों के उनके विषयों से अलग करने की विद्या दम है। जिस प्रकार एक घुड़सवार लगाम खींचकर घोड़े पर काबू कर लेता है तथा अपने अनुसार उसे मार्ग पर ले जाता है ठीक उसी प्रकार जब हमारी इन्द्रियॉं इधर-उधर गमन करें तो दम रूपी लगाम से हमको विषयों से अलग करें। मन को इसी प्रकार ब्रहमचिन्तन में लगाये रखने की विद्या दम है।

3. उपरति :- किसी वस्तु की प्राप्ति हो जाने पर उदासीन भाव धारण करना उपरति है। संसार की विषय वस्तुओं के प्रति कोई आसक्ति नहीं रखना उपरति है। जगद् की वस्तुओं के प्रति राग-रहित होकर अपने-अपने धर्म में तत्पर रहना भी उपरति कहलाता है।

4. तितिक्षा :- तितिक्षा का शाब्दिक अर्थ है सहनशीलता समस्त दृन्दों को सहन करते हुए अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए साधना में निरन्तर रत रहना तितिक्षा है। लाभ-हानि, जय-पराजय, सुख-दु:ख, शीत-उष्ण आदि दृन्दों को सामान्य रूप से सहन कर लेना तितिक्षा है। जब साधक कोई तप करता है तो जरूरी है कि वे सारे दृन्दों को सहन करे कहा भी गया है-

तपो द्वन्द्व सहनम्

अर्थात् द्ववन्द (सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास) को सहन कर लेना तप है। महर्षि पतंजलि ने साधन-पाद में कहा है।

कायेन्द्रियशिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपस:

2/43 योगसूत्र

अर्थात् तप करने से जब अशुद्धि का क्षय हो जाता है तब शरीर तथा इन्द्रियों की सिद्धि हो जाती है और यह सब तितिक्षा से ही सम्भव है।

5. श्रद्धा :- प्राचीन आर्ष ग्रन्थों, (वेद, उपनिषदों, पुराणों स्मृतियों, आरण्यको, गीता, योगसूत्र) तथा गुरू वाक्यों में दृढ़ निष्ठा एवं अटल विश्वास का नाम श्रद्धा है। श्रद्धा का दूसरा नाम आस्था भी है। प्रिय विद्यार्थियों जो व्यक्ति श्रद्धा रहित रहता है उसे ब्रहमज्ञान की प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती। कहा गया है- 'संशयात्मा विनश्यति' अर्थात जो संशयआत्मा है उसका विनाश होता है। अत: योगी को चाहिए संशय रहित होना चाहिए। महर्षि पतंजलि ने चित्त विक्षेपों में संशय को विघ्न माना है। अत: गुरूवाक्यों और प्राचीन आर्ष ग्रन्थों की वैज्ञानिकता मनोवैज्ञानिकता तथा दार्शनिकता पर संशय न करते हुए श्रद्धा रखनी आत्म कल्याण के लिए आवश्यक है।

6. समाधान :- चित्त की एकाग्रता समाधान है चित्त स्वभाव से चंचल है क्योंकि चित्त में वृत्तियॉं विक्षेप हमेशा विद्यमान रहते है। यौगिक अभ्यासों (जिसमें पतंजलि ने अभ्यास वैराग्य, चित्त प्रसादन के उपाय बताये है) के द्वारा चित्त को एकाग्र करें तथा चित्त को ब्रहम में स्थिर किये रखना ही समाधान है।

घ. मुमुक्षत्व :- मोक्ष प्राप्ति की इच्छा रखना मुमुक्षत्व कहलाता है। और इस संसार में सभी वस्तुएँ अनित्य है तथा यह संसार की प्रत्येक वस्तु में दु:ख भरा पड़ा है। समस्त भौतिक पदार्थो से विरक्त रहकर मोक्ष प्राप्ति की इच्छा रखना मुमुक्षत्व है।

4.3.2 अन्तरंग साधन :- अन्तरंग साधना के निम्न तीन भेद है जो इस प्रकार है -

1. श्रवण :- अर्थात सुनना। वेदवाक्यों को सुनना। संशयरहित होकर गुरूमुख से प्राचीन आर्ष ग्रन्थों में वर्णित साधनाओं तथा ब्रहमज्ञान को सुनना श्रवण कहलाता है।

2. मनन :- श्रवण की गई बातों को बारम्बार मन में लाना मनन कहलाता है। गुरू के मुख से कैवल्य विषयक सुनी गयी विषय को अन्त:करण में बैठाकर बार-बार चिन्तन करना मनन कहलाता है।

3. निदिध्यासन :- निदिध्यासन का अर्थ है अनुभूति करना या आत्मसाक्षात्कार करना। वेदान्त दर्शन में निदिध्यासन को योग माना गया है। स्वामी विज्ञानानन्द सरस्वती द्वारा वर्णित पुस्तक योग विज्ञान में निदिध्यासन के निम्नलिखित 15 अंग बताये है :-

1. यम :- इन्द्रियों को वश में कर यह अनुभव करना कि यह सब ब्रहम है यम कहलाता है।

2. नियम :- सजातीय वृत्ति का प्रवाह और विजातीय वृत्ति का तिरस्कार यही परमानन्द रूप नियम है।

3. त्याग :- समस्त संसार को झूठ मानते हुए यह समझा जाय कि ब्रहम ही सत्य है। इस प्रकार का ज्ञान करने से जगतरूप प्रपंच का त्याग हो जाता है। यही त्याग है।

4. मौन :- जिसे न पाकर मन सहित वाणी आदि इन्द्रियों लौट आती हों और तुष्णीभूत हो जाती हो वही योगियों का मौन है।

5. देश :- अन्त:करण के अन्दर एक एकान्त क्षेत्र (देश) में मन को लगाना।

6. काल :- अखण्ड स्वरूप अद्वितीय ब्रहम में नित्य बुद्धि रखना काल है।

7. आसन :- जिस अवस्था में बैठकर ब्रहम का चिन्तन किया जाये तो उसे आसन समझना चाहिए। चार महत्वपूर्ण ध्यान के आसन है - सिहासन, पद्मासन, स्वस्तिकाआसन, सुखासन।

8. मूलबन्ध :- जो समस्त भूतों का मूल है उसमें जब चित्त को बॉध दिया जाता है तो यही मूल बन्ध कहलाता है। व स्मरण रहे कि हठयोग में मूलबन्ध अलग बताया गया है।

9. देह स्थिति :- जब मन ब्रहम में एकाग्र हो जाता है तो उस समय शरीर के अंगों की स्थिति निश्चल हो जाती है और यही देह स्थिति का अभिप्राय है।

10. दृक स्थिति :- दृष्टि को ज्ञानमयी बना करके जगत को ब्रहममय देखें तो यही दृक स्थिति कहलाती है।

11. प्राणायाम :- श्वास भरते हुए अनुभव करे कि में ही ब्रहम हूँ। जिसे पूरक कहते है। उस वृत्ति की निश्चल स्थिति का नाम कुम्भक प्राणायाम है और जगत रूप प्रपंच का निषेध यानि अभाव वृत्ति का नाम रेचक प्राणायाम है। इसे ही ज्ञानयोगी प्राणायाम कहते है।

12. प्रत्याहार :- प्रत्याहार का सामान्य अर्थ इन्द्रिय संयम है। बहिर्मुखी इन्द्रियों को विषयों से हटा कर अन्तर्मुखी बना लेना प्रत्याहार है।

13. धारणा :- किसी देश विशेष में चित्त को बॉध लेना धारणा है। जहॉ भी मन चला जाये वहॉ पर ब्रहम दृष्टि करके मन को लगा देना धारणा है।

14. ध्यान :- धारणा की उच्च अवस्था ध्यान है। निश्चय ही मैं सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रहम से अभिन्न हूँ, इस सद्वृत्ति को रखना ध्यान है।

15. समाधि :- ध्यान की परिपक्व अवस्था समाधि है। समाधि की अवस्था में अपना भी आभास नहीं रहता और स्वरूप शून्य हो जाता है यह समाधि है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

1. एक शब्द में उत्तर दीजिए

क. ज्ञानयोग के कितने साधन बताये है।

ख. नित्य और अनित्य का ज्ञान क्या कहलाता है।

ग. तीनों द्वन्दों को सहन करना क्या कहलाता है।

घ. धारणा की उच्च अवस्था का क्या नाम है।

4.4 कर्मयोग

कर्म शब्द कृ धातु से बनता है। कृ धातु में 'मन' प्रत्यय लगने से कर्म शब्द की उत्पत्ति होती है। कर्म का अर्थ है क्रिया, व्यापार, भाग्य आदि। हम कह सकते हैं कि जिस कर्म में कर्ता की क्रिया का फल निहित होता है वही कर्म है।

कर्म करना मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। तथा कर्म के बिना मनुष्य का जीवित रहना असम्भव है। कर्म करने की इस प्रवृत्ति के संबन्ध में गीता में कहा गया है-

नहि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः।। (गीता **3@5)**

अर्थात् इस विषय में किसी भी प्रकार का संदेह नहीं किया जा सकता कि मनुष्य किसी भी काल में क्षणमात्र भी बिना कर्म किये नहीं रह सकता, क्योंकि सभी मानव प्रकृतिजनित गुणों के कारण कर्म करने के लिए बाध्य होते हैं। मनुष्य को न चाहते हुए भी कुछ न कुछ कर्म करने होते हैं और ये कर्म ही बन्धन के कारण होते हैं। साधारण अवस्था में किये गये कर्मों में आसक्ति बनी रहती है, जिससे कई प्रकार के संस्कार उत्पन्न होते हैं। इन्हीं संस्कारों के कारण मनुष्य जीवन-मरण के चक्र में फंसा रहता है। जबकि ये कर्म यदि अनासक्त भाव से किये जाते हैं तो यह मोक्ष प्राप्ति का मार्ग बन जाते हैं।

कर्म से व्यक्ति बंधन में बंधता है किन्तु गीता ने कार्य में कुशलता को योग कहा है। योग की परिभाषा देते हुए गीता में कहा है- ''योगः कर्मसु कौशलम'' (गीता 2@50)

अर्थात् कर्मों में कुशलता ही योग है। कर्मयोग साधना में मनुष्य बिना कर्म बंधन में बंधे कर्म करता है तथा वह सांसारिक कर्मों को करते हुए भी मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

कर्मयोग का गूढ़ रहस्य अर्जुन को बताते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं कि हे अर्जुन ! शास्त्रों के द्वारा नियत किये गये कर्मों को भी आसक्ति त्यागकर ही करना चाहिए क्योंकि फलासक्ति को त्यागकर किये गये कर्मों में मनुष्य नहीं बंधता। इसीलिए इस प्रकार वे कार्य मुक्तिदायक होते हैं। कुछ लोगों का मानना है कि फल की इच्छा का त्याग करने पर कर्मों की प्रवृत्ति नहीं रहेगी, जबकि ऐसा नहीं है क्योंकि कर्म तो कर्तव्य की भावना से किये जाते हैं तथा यही कर्मयोग भी सीखाता है।

कर्मयोग की साधना में अभ्यासरत साधक धीरे-धीरे सभी कर्मों को भगवान को अर्पित करने लगता है, और साधक में भक्ति भाव उत्पन्न हो जाता है। इस अवस्था में साधक जो भी कर्म करता है वह परमात्मा को अर्पित करते हुए करता है। साधक परमात्मा में अपनी श्रद्धा बनाए रखते हुए उत्साह के साथ कर्म करता है। इस सम्बन्ध में गीता में कहा गया है-

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्।। (गीता **9@27)**

अर्थात् हे अर्जुन! तू जो भी कर्म करता है, जो खाता है, जो हवन करता है, जो दानादि देता है, जो तप करता है, वह सब मुझको अर्पण कर।

ईश्वर के प्रति समर्पित कर्म व उसके फल सम्बन्ध को बताते हुए कहा गया है-

'ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः।

लिप्यते न स पापेन पद्मपत्र मिवाम्भसा।।’ गीता 5@10

अर्थात् ब्रह्म को अर्पित करके अनासक्ति पूर्वक कर्म करने वाला उसके फल से वैसे ही अलग रहता है जैसे जल में कमल का पत्ता।

कर्मयोग की साधना में रत व्यक्ति में उच्च अवस्था की स्थिति आने पर स्वयं कर्ता की भावना समाप्त हो जाती है। इस अवस्था में साधक अनुभव करता है कि मेरे द्वारा जो भी कर्म किये जा रहे हैं, उन सबको करने वाले ईश्वर ही हैं। इस प्रकार से साधक कर्म करता हुआ भी बंधन से मुक्त रहता है। उसके द्वारा किये गये कर्म से किसी भी प्रकार के संस्कार उत्पन्न नहीं होते। इस प्रकार के कर्म मुक्ति को दिलाने वाले होते हैं।

कर्मयोग की साधना से साधक के लौकिक व पारमार्थिक दोनों पक्षों का उत्थान होता है। कर्मयोग के मार्ग से ही साधक गृहस्थ जीवनयापन करते हुए भी साधना कर सकता है तथा मुक्ति प्राप्त कर सकता है।

4.4.1 कर्म के भेद :- प्रिय विद्यार्थियों अभी तक आपने कर्म शब्द की उत्पत्ति के साथ-साथ निष्काम कर्म के बारे में जाना और यह भी समझा कि अपने समस्त कर्मो को भगवान में अर्पित कर देना चाहिए। अक्सर कई योग साधकों के मन में प्रश्न उठते है कि

- कर्म के भेद कौन-कौन से है।
- क्या पूजा-पाठ, सन्ध्या भी कर्म है।
- निषिद्ध कर्म क्या है।
- विहित कर्म क्या है।
- भगवत गीता में कितने प्रकार के कर्म बताये है।

अगले पृष्ठों का अध्ययन कर लेने के बाद आप निश्चित रूप से उपरोक्त प्रश्नों के उत्तर जानने में सक्षम हो जायेंगे।

कर्म मुख्य रूप से दो प्रकार के होते है :-

क. विहित कर्म

ख. निषिद्ध कर्म

क. विहित कर्म :- विहित कर्म अर्थात अच्छे कर्म, सुकृत कर्म। विहित कर्म के भी चार भेद है :-

विहित कर्म

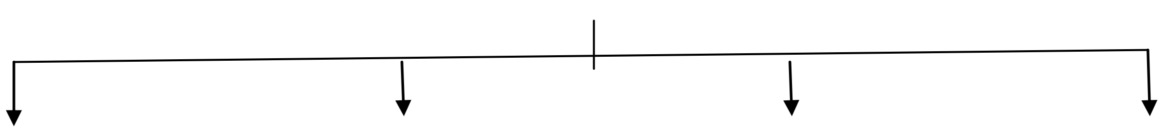

नित्य कर्म नैमित्तिक कर्म काम्यकर्म प्रायश्चित कर्म

(अ) नित्य कर्म :- नित्यकर्म कर्म का अर्थ है, प्रतिदिन किये जाने वाला कर्म जैसे सन्ध्या, पूजा, अर्चना, वन्दना इत्यादि।

ब. नैमित्तिक कर्म :- जो कर्म किसी प्रयोजन के लिए किये जाते है उदाहरणार्थ, किसी त्योहार या पर्व आ जाने पर अनुष्ठान किसी की मृत्यु हो जाने पर श्राद्ध, तर्पण इत्यादि, जैसे पूत्र के जन्म होने पर जातकर्म, बड़े होने पर यज्ञोपवीत इत्यादि।

स. काम्य कर्म :- ऐसे कर्म जो किसी कामना या किसी प्रयोजन के लिए किये जाते है। जैसे नौकरी प्राप्ति के लिए, पूत्र की प्राप्ति के लिए, स्वर्ग की प्राप्ति के लिए यज्ञ, वर्षा को रोकने के लिए, अकाल पड़ने पर वर्षा करने के लिए हवन या अनुष्ठान, पुण्यफल की प्राप्ति की इच्छा के लिए दान इत्यादि ये काम्य कर्म है।

द. प्रायश्चित कर्म :- प्रायश्चित कर्म जैसा कि नाम से स्पष्ट होता है कि अगर व्यक्ति से कोई अनैतिक काम या पाप हो जाये तो उसके प्रायश्चित के लिए वो जो कर्म करता है उसके प्रायश्चित कर्म कहते है तथा जन्म-जन्मान्तरों के पापों का क्षद करने के लिए तपचर्यादि इत्यादि –

प्रायश्चित कर्म कहलाते है।

ख. निषिद्ध कर्म :- निविद्ध कर्म अर्थात जो कर्म शास्त्र के अनुकूल नहीं है, चोरी, हिंसा, झूठ, व्याभिचार इत्यादि कर्म निषिद्धकर्म है। पाठको हम जो भी कर्म करते है हमारा मन (आत्म तत्व) उसे करने या न करने के लिए प्रेरित करता है कोई व्यक्ति उस आत्मा की आवाज के अनुसार कर्म करता है और कोई अनसुना करता है। अगर आत्मा की आवाज अर्थात परमेश्वर का भय न करते हुए हम जो कर्म करते है वह निषिद्ध कर्म है।

4.4.2 गीता के अनुसार कर्म :- भगवदगीता में तीन प्रकार के कर्म बताये है जो इस प्रकार है -

क. कर्म :- शास्त्र के अनुकूल, वेदों के अनुकूल किये गये कर्म।

ख. अकर्म :- अकर्म का अर्थ है कर्म का अभाव यानि तुष्णीभाव।

ग. विकर्म :- अर्थात जो निषिद्ध (पाप) कर्म है वह विकर्म है।

4.4.3 योग सूत्र के अनुसार कर्म :- महर्षि पतंजलि ने कैवल्यपाद के सातवें सूत्र में कर्म के भेद बताये है।

कर्माशुक्लाकष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्

योगसूत्र 4/7

अर्थात शुक्लकर्म, कृष्णकर्म, शुक्लकृष्णकर्म, तथा अशुक्लाकृष्णकर्म ये कर्म के चार भेद है :-

क. शुक्लकर्म :- जो कर्म श्रेष्ठ है अर्थात वेदों में बताई गई विद्याओं के आधार पर जो कर्म किये जाते है। इस शुक्ल कर्म से स्वर्ग लोक की प्राप्ति होती है।

ख. कृष्णकर्म :- जो कर्म पाप कर्म है उन्हें कृष्णकर्म कहा है। अर्थात शास्त्रविरूद्ध पापकर्मो को कृष्णकर्म कहा गया है। इन कृष्णकर्मो से दु:ख तथा नरक की प्राप्ति होती है तथा इन कर्मो के फलों को जन्म जन्मान्तर तक भोगना पड़ता है।

ग. शुक्लकृष्णकर्म :- ऐसे कर्म जो पाप व पुण्य के मिश्रण हो। कहा गया है कि शुक्लकृष्णकर्म से पुन: मनुष्य को जन्म की प्राप्ति होती है।

घ. अशुक्लाकृष्णकर्म :- जो न तो पाप कर्म हो न पुण्य कर्म और न पाप-पुण्य मिश्रित कर्म हो इन सब से भिन्न ये कर्म निष्काम कर्म है क्योंकि ये कर्म किसी भी कामना के नहीं किये जाते है। इन कर्मो को करने से अन्त:करण की शुद्धि होती है। अन्त:करण शुद्ध पवित्र तथा दर्पण की भॉति स्वच्छ छवि वाला निर्मल बन जाता है। शीघ्र ही ऐसे साधक को वास्तविक तत्व ज्ञान (आत्मा के ज्ञान) की प्राप्ति होती है या अन्त में निश्चित उसे कैवल्य की प्राप्ति होती है।

4.4.4 वेदान्त के अनुसार कर्म :- वेदान्त दर्शन में कर्म के तीन भेद बताये गये है:-

क. संचित कर्म :- संचित कर्म का अर्थ है कि पूर्वजन्म में हमने जो अनेको शरीर धारण किये है उन शरीरों में हमने जो कर्म किये वो संचित कर्म कहलाते है। हमारे जन्म–जन्मान्तरों के संस्कार चित्त में संचित पड़े रहते हैं, इन्हीं कर्म-संस्कारों के समूहों को संचित कर्म कहते है।

ख. प्रारब्ध कर्म :- प्रारब्ध कर्म ऐसे कर्म है जो संचित कर्मों में अति प्रबल है ये कर्म इतने बलवान होते है कि कर्मों का फल भोगने के लिए अगले जन्म में जाते है। पाठको यह निश्चित है कि हमारे सुख या दु:ख की उत्पत्ति प्रारब्ध कर्म के अनुसार ही होती है।

ग. क्रियमान कर्म :- इन्हें आगामी कर्म के नाम से भी जाना जाता है। आगामी अर्थात आगे किये जाने वाला कर्म, व्यक्ति ने जिन कर्मो का आरम्भ अभी नही किया है वही आगामी कर्म है जो भविष्य में फल प्रदान करते है। आगामी कर्म मनुष्य के अधीन है इनको चाहे तो हम बना सकते है चाहे तो बिगाड़ सकते है।

अभ्यास प्रश्न

1. सत्य/असत्य बताइये

क. कर्म करना व्यक्ति की स्वाभाविक प्रवृत्ति है।

ख. योग: कर्मसु कौशलम् यह योगसूत्र से लिया है।

ग. विहित कर्म के चार भेद है।

घ. कृष्ण कर्म का अर्थ पाप कर्म से है।

ड. वेदान्त के अनुसार कर्म के दो प्रकार है।

4.5 सारांश

योग की अन्तिम पराकाष्ठा समाधि की प्राप्ति हैं। इस समाधि की प्राप्ति के लिए ज्ञानयोग तथा कर्मयोग महत्वपूर्ण भूमिका निभाते है तथा जब व्यक्ति को वास्तविक ज्ञान हो जाता है तो वह सर्वत्र उस ब्रहम का अनुभव करने लगता है, जिससे समस्त संसार उसे मिथ्या दिखाई देने लगता है तब साधक ज्ञान योग की उच्च पराकाष्ठा की प्राप्ति कर लेता है। कर्मयोग के शास्त्रों में निष्काम कर्म की बात की है। कोई भी व्यक्ति किसी भी काल में बिना कर्म किये नहीं रह सकता है क्योंकि समस्त समुदाय प्रकृति जनित गुणों के द्वारा कर्म करने के लिए बाध्य किया जाता है। कर्म ही बन्धन के कारण है तथा मुक्ति के भी। अगर साधक निष्काम कर्म करे, तो वह निश्चित कर्मयोग की उच्च अवस्था में पहुँचकर आत्मा व परमात्मा का मिलन अवश्य कराता है।

4.6 शब्दावली

अनित्य :- जो नित्य नहीं है जैसे यह संसार व समस्त पदार्थ

राग :- चाह, इच्छा

लोक :- संसार

शम :- इन्द्रियों का निग्रह

चित्त :- मन बुद्धि और अहंकार का सम्मलित रूप्

आरण्यक :- जंगलों में लिखे गये साहित्य

दवन्द :- (सर्दी, गर्मी, वर्षा) ये तीन दवन्द है जो चित्त को असंतुलित करते है।

काया :- शरीर

तितिक्षा :- सहनशीलता

स्मृतियॉं :- स्मृति के आधार पर लिखे साहित्य

मुमुक्षत्व :- मोक्ष प्राप्ति की इच्छा

विहित कर्म :- अच्छे, सुकृत कर्म

काम्य :- कामना, इच्छा

विकर्म :- पाप कर्म

शुक्ल कर्म :- श्रेष्ठ कर्म

कृष्ण कर्म :- पाप कर्म

तत्व ज्ञान :- आत्मा का ज्ञान

4.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. क. दो   ख. विवेक   ग. तितिक्षा   घ. ध्यान

2. क. सत्य   ख. असत्य   ग. सत्य   घ. सत्य   ड. असत्य

4.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची -

1. सरस्वती स्वामी विज्ञानानन्द - योग विज्ञान – (2007) योग निकेतन ट्रस्ट मुनि की रेति ऋषिकेश

2. महर्षि पतंजलि – योग दर्शन (2001) गीताप्रेस गोरखपुर

3. शिवानन्द स्वामी - श्रीमदभगवद्गीता (2005) द डिवाइन लाइफ सोसायटी, शिवानन्दनगर ऋषिकेश।

4.9 निबंधात्मक प्रश्न

1. ज्ञानयोग के अन्तरंग साधनों की सुदीर्घ व्याख्या कीजिए।

2. षटसम्पति क्या है विस्तार पूर्वक समझाइये।

3. कर्मयोग साधना का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए।

4. कर्मयोग क्या है, योगसूत्र के अनुसार कर्म के भेदों की विस्तारपूर्वक चर्चा कीजिए।

इकाई 5 :- भक्तियोग एवं अष्टांग योग

5.1 प्रस्तावना

5.2 उद्देश्य

5.3 भक्तियोग

5.3.1 नवधा भक्ति

5.3.2 रागात्मिका भक्ति

5.3.3 पराभक्ति

5.4 अष्टांग योग

5.4.1 बहिरंग साधन

5.4.2 अन्तरंग साधन

5.5 सारांश

5.6 शब्दावली

5.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

5.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

5.9 निबंधात्मक प्रश्न

5.1 प्रस्तावना

पिछली इकाई में आपने योग ज्ञानयोग तथा कर्मयोग के बारे में अध्ययन किया। जैसा कि स्पष्ट किया जा चुका है कि समाधि (कैवल्य) की प्राप्ति के लिए अनेकानेक साधन योग शास्त्रों में बताये गये है। यह साधक की इच्छा है कि वह अपनी रूचि के अनुसार कौन सा मार्ग चुनता है। व साधक भले ही कोई भी मार्ग चुने उसकी साधना की अन्तिम परिणति समाधि की प्राप्ति ही है। प्रस्तुत इकाई में आप भाव प्रधान साधको के लिए वर्णित भक्ति योग तथा अधम कोटि के साधको के लिए अष्टांग योग का विस्तृत अध्ययन करेंगे।

5.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई का अध्ययन कर लेने के बाद आप

- भक्तियोग को विस्तार से समझ सकेंगे।
- नवधा भक्ति की नौ धाराओं का विश्लेषण कर सकेंगे।
- योग के अति महत्वपूर्ण अंग अष्टांग योग के अभ्यासों को समझ सकेंगे।

5.3 भक्तियोग

जिज्ञासु पाठको भक्ति शब्द से आप निश्चित परिचित होंगे। आपने-अपने घर के मन्दिर में, उपासना गृहों में तीर्थो में, लोगों को पूजा पाठ करते देखा होगा। भारतीय चिन्तन में ज्ञान तथा कर्म के साथ भक्ति को कैवल्य प्राप्ति का साधन माना है। आपको कुछ प्रश्न अवश्य उत्तर जानने के लिए प्रेरित कर रहे होंगे जैसे

- भक्ति क्या है?
- भक्ति के भेद क्या है?
- भक्त के क्या कोई प्रकार होते है?
- भक्ति से कैसे समाधि की सिद्धि होती है?

मुझे विश्वास है कि आगामी पृष्ठों का अध्ययन कर लेने के बाद आपको उपरोक्त प्रश्नों का उत्तर मिल जायेंगे।

भक्तियोग प्रेम की उच्च पराकाष्ठा है। ईश्वर के प्रति अत्यधिक प्रेम ही भक्ति है जब व्यक्ति संसार के भौतिक पदार्थो से मोह त्यागकर अनन्य भाव से ईश्वर की उपासना करता है तो वह भक्ति कहलाती है।

प्रश्न उठता है कि भक्ति शब्द संस्कृत व्याकरण के किन धातु से बना है।

'भज् सेवायाम्' धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय लगाकर भक्ति शब्द बनता है जिसका अर्थ सेवा, पूजा उपासना और संगतिकरण करना आदि होता है। भक्ति भाव से ओतप्रोत साधक पूर्ण रूप से ब्रह्म] ईश्वर के भाव में भावित होकर सर्वतोभावेन तदरूपता की अनुभूति को अनुभव करता है। इसलिए कहा गया है-

'भक्ति नाम प्रेम विशेषः'

अर्थात् ईश्वर के प्रति उत्कट प्रेम विशेष का नाम ही भक्ति है।

भक्ति योग का मार्ग भावप्रधान साधकों के लिए अधिक उपयुक्त माना गया है। इस मार्ग में साधक का चित्त आसानी से एकाग्र हो जाता है। यह मार्ग अति सरल होने के कारण जनसाधारण में काफी लोकप्रिय व प्रचलित है।

भक्ति योग की परिभाषा देते हुए नारद भक्ति सूत्र में कहा गया है-

'सा तस्मिन् परम प्रेमरूपा'1/2

अर्थात् प्रभु के प्रति परम प्रेम को भक्ति कहते हैं। शाण्डिल्य भक्ति सूत्र में भक्ति को परिभाषित करते हुए कहा गया है-

'सा भक्तिः परानुरक्तिरीश्वरे' 1/2

अर्थात् ईश्वर में परम अनुरक्ति भक्ति है। इस प्रकार प्रभु के प्रति अनन्य प्रेम में डूब जाना भक्ति कहलाता है। जैसा की स्पष्ट हो चुका है कि अपने आराध्य से उत्कट प्रेम का नाम भक्ति है। यह तो निश्चित है कि साधक ईश्वर की भक्ति किसी प्रयोजन से करता है गीता में भक्ति के प्रयोजन को भक्त के भेद के परिपेक्ष्य में आप समझ सकते है।

चतुर्विधा भजन्ते मां जता: सुकृतिनोडर्जुन।

आर्तोजिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ।।

गीता (7/16)

अर्थात हे भरतवंशी अर्जुन। चार प्रकार के पुण्यशाली मनुष्य मेरा भजन करते है यानि उपासना करते है। वे है आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी तथा ज्ञानी।

1. आर्त भक्त :- पाठको अपने मानस पटल पर द्रोपदी के चीर हरण की कहानी को लाइये जब द्रोपदी ने देखा कि दु:सासन द्वारा चीर हरण किया जा रहा है, तो उसने आर्त भाव से भगवान कृष्ण को पुकारा है और भगवान कृष्ण स्वयं उसकी रक्षा के लिए आये। कहने का तात्पर्य है कि आर्त भक्त वो कहलाते है जब वे गम्भीर संकट में फंस जाते है तो वे अपने आराध्य को आर्त भाव से पुकारते है और उसकी शरण में जाते है।

2. जिज्ञासु भक्त :- जिज्ञासु जैसा नाम से स्पष्ट है कि जिज्ञासा रखने वाले अर्थात किसी वस्तु को जानने की इच्छा रखने वाले। अब प्रश्न उठता है कि वह वस्तु क्या है - वह है आत्मा को जानने की इच्छा, ब्रहम को जानने की इच्छा ऐसे भक्त जिज्ञासु भक्त कहलाते है।

उदाहरण के रूप में आप जाने कि एक बार राजा चण्डिकापालि, घेरण्ड ऋषि के आश्रम में जाकर कहने लगें कि तत्व ज्ञान का कारण जो घटस्थ योग है उसके बारे में मुझे बतायें। महर्षि घेरण्ड ने राजा चण्डिकापालि के प्रश्न की प्रशंसा करते हुए उसे आत्म कल्याण के लिए घटस्थ योग की शिक्षा दी। हम कह सकते है कि राजा चण्डिकापालि जिज्ञासु भक्त थे।

नोट :- स्मरण रहे कि हठयोग की महत्वपूर्ण पुस्तक घेरण्ड संहिता की रचना राजा चण्डिकापालि व घेरण्ड ऋषि के संवाद का प्रतिफल है।

3. अर्थाथी भक्त :- समस्त संसार के व्यक्ति इस श्रेणी में आते है ऐसे भक्त किसी सांसारिक वस्तु, मकान, जमीन, धन, स्त्री, वैभव, मान-सम्मान, परीक्षाओं में सफलता विवाह के लिए अपने आराध्य को भजते है। ऐसे भक्त अर्थार्थी भक्त कहलाते है।

4. ज्ञानी भक्त :- ज्ञानी भक्त ऐसे भक्त है जो आत्म-कल्याण, ब्रहम की प्राप्ति के लिए अपने आराध्य को भजते है।

उपरोक्त चार प्रकार के भक्तों में ज्ञानी भक्त श्रेष्ठ है।

5.3.1 नवधा भक्ति :- नवधा भक्ति, भक्ति योग का बड़ा महत्वपूर्ण पक्ष है। नौ प्रकार से भगवान की भक्ति की जाती है। भगवत पुराण में कहा है –

श्रवणं, कीर्तनं, विष्णो: स्मरणं पादसेवनम् ।

अर्चनं वन्दनं दास्य सख्यमात्मनिवेदनम् ॥

अर्थात :- श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पाद सेवन, अर्चन दास्य, साख्य और आत्मनिवेदन ये भक्ति के नौ भेद है।

1. श्रवण भक्ति :- परमपिता परमेश्वर, अपने आराध्य ईष्ट के दिव्य गुणों व लीला आदि के विषय में सुनना श्रवण भक्ति कहलाती है।

2. कीर्तन भक्ति :- कीर्तन से आप भली भॉति परीचित होंगे। भगवान के दिव्य गुणों, लीला का गायन इत्यादि के माध्यम से कथन कीर्तन भक्ति कहलाती है।

3. स्मरण भक्ति :- सर्वत्र भगवान का स्मरण करना। अपने आराध्य की लीला, गुणों का निरन्तर अनन्य भाव से स्मरण करना स्मरण भक्ति कहलाती है।

4. पादसेवन भक्ति :- भगवान के चरणों की सेवा करना पाद सेवन भक्ति कहलाती है। यह भक्ति एक तो भगवान के चरणों का चिन्तन करते हुए तथा दूसरी उनकी प्रतिमा में चरणों को धोकर श्रद्धाभाव से साधना करते हुए की जाती है।

5. अर्चन भक्ति :- अर्चन भक्ति का अर्थ है पूजन करना यह पूजन मानसिक रूप से या स्थूल रूप से अपने आराध्य की हो सकती है।

6. वन्दन भक्ति :- भाव भरे मन से भगवान की वन्दना करना वन्दन भक्ति का उदाहरण है। वैदिक ऋचाओं, भक्तों के द्वारा भगवान की स्तुति करना वन्दन भक्ति का उदाहरण है।

7. दास्य भक्ति :- अपने आप को भगवान का दास समझना, अपने आप को भगवान का सेवक समझना दास्य भक्ति का उदाहरण है। जैसे हनुमान जी श्री रामचन्द्र जी के प्रति रखते थे।

8. साख्य भक्ति :- साख्य का अर्थ है मित्र अपने आराध्य को अपना मित्र समझना जैसे सुदामा-कृष्ण, अर्जुन-कृष्ण इस भक्ति के उदाहरण है।

9. आत्मनिवेदन भक्ति :- आत्मनिवेदन भक्ति अपने को भगवान के स्वरूप में अर्पण कर देना कहलाती है।

5.3.2 रागात्मिका भक्ति :- जब नवधा भक्ति अपनी चरम अवस्था में होती है तब रागात्मिका भक्ति की शुरूवात होती है। जब नवधा भक्ति अपनी चरम अवस्था को पार कर जाती है और अन्त:करण में एक अलौकिक भगवत प्रेम भाव उत्पन्न होने लगे तो रागात्मिका भक्ति एक आनुभूतिक अवस्था है। ऐसी अवस्था में साधक अपने आराध्य की झलक का अनुभव कर सकात है। उसे अपने आराध्य दिखाई देने लगते है वह भी सजीव। उनकी झलक वह कभी आसमान में, कभी पेड़ों में, कभी जलाशय में तो कभी अपने मन्दिर में उसको उनकी प्रतिमा सजीव दिखाई देने लगती है।

5.3.3 पराभक्ति :- पराभक्ति रागात्मिका भक्ति की चरम अवस्था है। यह साधक की उत्कृष्ट ओर अन्तिम पराकाष्ठा है। पराभक्ति में द्वैत नहीं रहता है इस अवस्था में उपासक और आराध्य एक हो जाते है और साधक को एक मात्र ब्रहम का साक्षात्कार होता है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

सत्य/असत्य बताइयें।

1. क. ईश्वर के प्रति अनन्य प्रेम ही भक्ति है।

ख. पराभक्ति, नवधा भक्ति की उच्च अवस्था है।

ग. नवधा भक्ति के 10 भेद बताये गये है।

घ. ब्रहम का साक्षात्कार पराभक्ति से होता है।

ड. रागात्मिका भक्ति में अपने आराध्य की छवि दिखाई देने लगती है।

5.4 अष्टांग योग

अष्टांग योग महर्षि पतंजलि द्वारा रचित व प्रयोगात्मक सिद्धान्तों पर आधारित योग के परम लक्ष्य की प्राप्ति हेतु एक साधना पद्धति है। महर्षि पतंजलि से भी पूर्व योग का सैद्धान्तिक एवं क्रियात्मक पक्ष विभिन्न ग्रंथों में उपलब्ध था परन्तु उसका स्वरूप बिखरा हुआ था। बिखरे हुए योग के ज्ञान को सूत्र में एक करने का कार्य महर्षि पतंजलि द्वारा ही हुआ है। कहा गया है- चित्त की मलिनता योग शास्त्र के द्वारा, वाणी (पद-वाक्य) की मलिनता (अशुद्धि) व्याकरण शास्त्र के द्वारा और शरीर की मलिनता वैद्यक शास्त्र के द्वारा जो दूर करता है, उस मुनिश्रेष्ठ पतंजलि को मैं अंजलिबद्ध रूप से प्रणाम करता हूँ।

महर्षि पतंजलि ने अपने योगसूत्र नामक ग्रंथ में तीन प्रकार की योग साधनाओं का वर्णन किया है। प्रथम साधना उत्तम कोटि के साधकों के लिए है जिन्हें केवल अभ्यास और वैराग्य के माध्यम से ही समाधि की अवस्था प्राप्त हो जाती है।

उत्तम कोटि के साधक ईश्वरप्रणिधान द्वारा भी साधना करके समाधि भाव की प्राप्ति के पश्चात परम लक्ष्य सुगमता से प्राप्त कर सकते हैं। इसी आधार पर सूत्रों में कथन है कि मध्यम कोटि के साधकों के लिए महर्षि पतंजलि ने दूसरे अध्याय में क्रियायोग का वर्णन किया है। क्रिया योग का अर्थ बताते हुए कहा गया है-

तप: स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोग: 2/1

तप, स्वाध्याय तथा ईश्वरप्रणिधान की संयुक्त साधना क्रिया योग कहलाती है। जिसका उद्देश्य समाधि भाव को प्राप्त करना व क्लेशों को क्षीण करना है।

तृतीय प्रकार की साधना सामान्य कोटि के साधकों के लिए है जिनका न तो शरीर शुद्ध है और न ही मन। ऐसे साधकों को प्रारम्भ से ही साधनारत रहते हुए महर्षि पतंजलि द्वारा प्रस्तुत अष्टांगयोग का आश्रय लेना चाहिए। 'अष्टांग' शब्द दो शब्दों के मेल से बना है अर्थात् अष्ट $ अंग, जिसका अर्थ है आठ अंगों वाला। अतः अष्टांगयोग वह साधना मार्ग है जिसमें आठ साधनों का वर्णन मिलता है जिससे साधक शरीर व मन की शुद्धि करके परिणामस्वरूप एकाग्रता भव को प्राप्त कर समाधिस्थ हो जाता है तथा कैवल्य की प्राप्ति कर लेता है। अष्टांग योग के विभिन्न् भेद इस प्रकार से है-

5.4.1 बहिरंग योग :- महर्षि पतंजलि ने अष्टांग योग को दो भागों में बॉटा है :-

बहिरंग योग एवं अन्तरंग योग।

बहिरंग योग

यम नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार

यम :- जो अवांछनीय कार्यों से मुक्ति दिलाता है, निवृति दिलाता है वह यम कहलाता है।

यम की उत्पत्ति संस्कृत के दो धातु से माना गया है।

1. यम उप्रमे 2. यम बंधने

यम उप्रमे :- ब्रहम में रमन करना

यम बंधने :- सामाजिक बंधन।

त्रिशिख ब्रहमणोपनिषद के 29 वें श्लोक में कहा गया है

देह इन्द्रियसु वैराग्य यम इति उच्यते बुधै: ।

अर्थात :- यम शरीर और इन्द्रियों में वैराग्य की स्थिति है ऐसा बुद्धिमान लोग मानते है।

यमयते नियम्यते चित्ति अनेन इति यम: ।

अर्थात :- चित्त को नियम पूर्वक चलाना यम कहलाता है।

पातन्जल योग सूत्र :- यहॅा पांच प्रकार के यमों का वर्णन मिलता है।

अहिंसा सत्यास्तेय ब्रहमचर्यापरिग्रहा यमा: । 2/30 योग सूत्र

अर्थात :- अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रहमचर्य और अपरिग्रह ये पांच यम है। इन्हें सार्वभौम महाव्रत भी कहा गया है। ये महाव्रत तब बनते हैं जब इन्हें जाति, देश, काल तथा समय की सीमा में न बांधा जाये। इसमें सर्वप्रथम अहिंसा है।

क. अहिंसा :- अहिंसा का अर्थ है – सदा और सर्वदा किसी प्राणी का अपकार न करना, कष्ट न देना।

याज्ञवल्क्य संहिता में कहा गया है।

मनसा वाचा कर्मणा सर्वभूतेषू सर्वदा।

अक्लेश जननं प्रोक्तमहिंसात्वेन योगिभि:।।

अर्थात :- मन, वचन एवं कर्म द्वारा सभी जनों को क्लेश न पहुँचाने को ही महर्षि जनों ने अहिंसा कहा है।

व्यासभाव्य :- में व्यास जी ने कहा है कि –

अहिंसा सर्वदा सर्वभूतानामनभिदोह:।

अर्थात :- सभी प्राणियों के प्रति हर प्रकार से विद्रोह भाव का परित्याग करना अहिंसा है।

पातंजल योग सूत्र में अहिंसा के फल के बारे में लिखा है-

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सनिधौ वैरत्याग:। 2/35

अर्थात :- अहिंसा की पूर्णता और स्थिरता होने पर साधक के सम्पर्क में आने वाले सभी प्राणियों की हिंसा बुद्धि दूर हो जाती है। यह अहिंसा का मापदण्ड है।

ख. सत्य :- सत्य का अर्थ है- मन, वचन और कर्म में एकरूपता। अर्थात अर्थानुकूल वाणी और मन का व्यवहार होना, जैसा देखा और अनुमान करके बुद्धि से निर्णय किया अथवा सुना हो, वैसा ही वाणी से कथन कर देना और बुद्धि में धारण करना।

मनुस्मृति :- में कहा है सत्य, मित एवं हित भाषी हों।

सत्यं ब्रुयात प्रियं ब्रुयात मा ब्रुयात सत्यमपियम्

अर्थात :- सत्य बोले, परन्तु प्रिय शब्दों में बोले, अप्रिय सत्य न बोलें। परन्तु प्रिय लगने के लिए असत्य भाषण न करें, ऐसा पुरातन विधान है। जैसे – नेत्रहीन को अन्धा कह देना सत्य है, चोर को चोर कह देना भी सत्य है- किन्तु यह अप्रिय सत्य है।

मुण्डकोपनिषद कहता है :- सत्यमेवजयते नानृतं।

अर्थात :- सत्य की जीत होती है, असत्य की नहीं।

आयुर्वेद चरकसूत्र में कहा गया है-

'ऋतं ब्रुयात्' सत्य बोलना चाहिए।

महाभारत शांतिपर्व :- सत्य बोलना अच्छा है, परन्तु सत्य में भी ऐसी बोली बोलना अच्छा होता है, जिससे सब प्राणियों का वास्तविक हित होता है वह हमारी नजरों मन में सत्य है।

पातन्जल योग सूत्र :- में सत्य के फल के बारे में कहा है –

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलान्जयत्वम्। 2/36

अर्थात :- सत्य की प्रतिष्ठा होने पर वाणी और विचारों में क्रिया फल दान की शक्ति उत्पन्न हो जाती है। ऐसा व्यक्ति जो कुछ भी बोलता है, वह फलित होने लगता है अर्थात वह वाक् सिद्ध हो जाता है।

ग. अस्तेय :- स्तेय का अर्थ है- अधिकृत पदार्थ को अपना लेना। इसे भी बुद्धि वचन और कर्म से त्याग देना अस्तेय है।

शांडिल्योपनिषद के 1/1 श्लोक में कहा गया है-

अस्तेयं नाम मनोवाक् कायकर्मभि: परद्र्येषु नि:स्पृहता।

अर्थात :- शरीर, मन और वाणी द्वारा दूसरों के द्रव्य की इच्छा न करना अस्तेय कहलाता है।

याज्ञवल्क्य संहिता में कहा गया है :-

मनसा वाचा कर्मणा परद्रव्येषु निस्पृह:।

अस्तेयनिति सम्प्रोक्तं ऋषिभ्ज्ञि: तत्व दर्शिभि:।।

अर्थात :- मन, वचन और कर्म से दूसरे के द्रव्य की इच्छा न करना अस्तेय है। तत्वदर्शी ऋषियों ने ऐसा ही कहा है।

व्यास भाष्य – में महर्षि व्यास लिखते है कि-

स्तेयमशास्त्रपूर्वकं द्रव्याणां परत: स्वीकरणम् तत्प्रतिषेध: पुनरस्पृहारूपमस्तेयमिति।

अर्थात :- अशास्त्रीय ढंग से अर्थात् धर्म के विरूद्ध अन्यय पूर्वक किसी दूसरे व्यक्ति के द्रव्य इत्यादि को ग्रहण करना स्तेय है, पर वस्तु में राग का प्रतिषेध होना ही 'अस्तेय' है।

योग सूत्र :- में अस्तेय सिद्धि के विषय में कहा है -

अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोप्रस्थानम्। 2/37

अर्थात :- अस्तेय की दृढ़ स्थिति होने पर सर्व रत्नों की प्राप्ति होती है।

घ. ब्रहमचर्य :- मन को ब्रहम या ईश्वर परायण बनाये रखना ही ब्रहमचर्य है। 'वीर्य धारणं ब्रहम्चर्यमू' शरीरस्थ वीर्य शक्ति की अविचल रूप में रक्षा करना या धारण करना ब्रहमचर्य है।

व्यास शाख्य :- महर्षि व्यास ने लिखा है :-

ब्रहमचर्य गुप्तेन्द्रियस्योपस्थस्य संयम:।

अर्थात :- गुप्त इन्द्रिय (उपस्थेन्द्रिय) के संयम का नाम ब्रहमचर्य है।

'शाडिल्योपनिषद में इसकी और सूक्ष्म व्याख्या करते हुए कहते है –

ब्रहमचर्य नाम सर्वावस्थासु मनोवाक काय कर्मभि: सर्वत्तमंथुन त्याग:।

अर्थात :- सभी अवस्था में सर्वत शरीर, मन और वाणी द्वारा मैथुन का त्याग ब्रहमचर्य कहलाता है।

ब्रहमचर्य सिद्ध कर लेने वाले साधकों के संबंध में पातंजल योग सूत्र में कहा गया है-

ब्रहमचर्यप्रतिष्टाया वीर्यलाभ:। 2/38

अर्थात :- ब्रहमचर्य की प्रतिष्ठा होने पर साधक को वीर्य लाभ होता है। वीर्य लाभ होने से साधना के अनुकूल गुण समूह पैदा होते है। जिससे गोणाभ्यासी को आत्मज्ञान प्राप्त होता है।

ड. अपरिग्रह :- संचय वृत्ति का त्याग 'अपरिग्रह' है।

व्यास भाष्य :- विषयानामर्जन रक्षण क्षय, संग, हिंसा दोष दर्शनादस्वीकरणम् अपरिग्रह।

अर्थात :- विषयों के अर्जन में, रक्षण उनका क्षय, उनके संग और उनमें हिंसादि दोष को विषयों को स्वीकार न करना ही अपरिग्रह है।

मनुस्मृति – 2/13
इन्द्रियाणां पसंगेन दोषमृच्छत्य संशयम्।

सन्नियम्य तु तान्येव तत: सिद्धिं नियच्छति।।

अर्थात :- इन्द्रियों के विषयों में आशक्त होने से व्यक्ति नि:संदेह दोषी बनता है परन्तु इन्द्रियों को वश में रखने से विषयों के भोग से पूर्ण विरक्त हो जाता है। ऐसे आचरण से अपरिग्रह की सिद्धि होती है।

पूर्ण अपरिग्रह को प्राप्त साधक में काल-ज्ञान संबंधी सिद्धि आ जाती है, पतन्जलि योग सूत्र का इस संबंध में कथन है –

अपरिग्रहस्थैर्य जन्मकथन्तासम्बोध:। 2/39

अर्थात :- अपरिग्रह के स्थिर होने से जन्म–वृतान्त का ज्ञान प्राप्त होता है। इसका अर्थ हुआ कि पूर्वजन्म में हम क्या थे, कैसे थे। उस जन्म की परिस्थितियॉं ऐसी क्यों हुई एवं हमारा भावी जन्म कब,कहॉं, कैसा होगा। इस ज्ञान का उदय होना अपरिग्रह साधना द्वारा ही सम्भव होता है।

2. नियम :- नियम का तात्पर्य आन्तरिक अनुशासन से है। यम व्यक्ति के जीवन को सामाजिक एवं वाह्य क्रियाओं के सामंजस्य पूर्ण बनाते है और निगम उसके आन्तरिक जीवन को अनुशासित करते हैं।

नियमों के अन्तर्गत शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्राणीधान आते हैं। अपने जीवन में इस अनुशासन को उत्पन्न और विकसित करना आवश्यक है। योग सूत्र में कहा है -

शौचसन्तोषतप:स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानिणि नियमा:। 2/32

अर्थात :- शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय व ईश्वर प्रणिधान ये 5 नियम है

क. शौच – शौच का अर्थ है परिशुद्धि, सफाई, पवित्रता। न खाने लायक चीज को न खाना, निन्दितों के साथ संग न करना और अपने धर्म में रहना शौच है। शौच मुख्यत: दो है बाह्य और आभ्यान्तर।

शौच या पवित्रता दो प्रकार की कहीं गई है।

1. बाह्य 2. आभ्यान्तर शौच।

1. बाह्य शौच :- जल व मिट्टी आदि से शरीर की शुद्धि, स्वार्थ त्याग, सत्याचरण से मानव व्यवहार की शुद्धि, विद्या व तप से पंचभूतों की शुद्धि, ज्ञान से बुद्धि की शुद्धि ये सब बाह्य शुद्धि कहलाती है।

2. आन्तरिक शौच :- अंहकार, राग, द्वेष, ईर्ष्या, काम, क्रोध आदि मलों को दूर करना आन्तरिक पवित्रता कहलाती है।

योग सूत्र :- में इसके फल के विषय में कहा है कि –

शौचात्स्वाडग्.जुगुप्सा परैरसंसर्ग:। 2/40

अर्थात :- शौच की स्थिरता होने पर निजी अंग समूह के प्रति घृणा और परदेह संसर्ग की अनिच्छा होती है।

ख. सन्तोष :- सन्तोष नाम सन्तुष्टि का है। अन्त:करण में सन्तुष्टि व भाव उदय हो जाना ही सन्तोष है।

अर्थात :- अत्यधिक पाने की इच्छा का अभाव ही सन्तोष है।

मनुस्मृति कहती हैं – सन्तोष ही सुख का मूल है। इसके विपरित असंतोष या तृष्णा ही दु:ख का मूल है।

योग सूत्र :- में सन्तोष का फल बताते हैं –

सन्तोषादनुत्तमसुखलाभ:। 2/42

अर्थात :- चित्त में सन्तोष भाव दृढ़ प्रतिष्ठित हो जाने पर योगी को निश्चय सुख यानी आनन्द प्राप्त होता है।

ग. तप :- अपने वर्ण, आश्रम, परिस्थिति और योग्यता के अनुसार स्वधर्म का पालन करना और उसके पालन में जो शारीरिक या मानसिक अधिक से अधिक कष्ट प्राप्त हो, उसे सहर्ष करने का ना ही ‘तप’ है।

तपो द्वन्दसहनम् :- सब प्रकार के द्वन्दों को सहन करना तप है। तप के बिना साधना, सिद्धि नहीं होती है, अत: योग साधना के काल में सर्दी, गर्मी, भूख, प्यास, आलस तथा जड़तादि द्वन्दों को सहन करते हुए अपनी साधना में उसका रहना 'तप' कहा जाता है।

योग सूत्र :- में तप का फल बताते हुए कहा है –

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयान्तपस:। 2/43

अर्थात :- तप के प्रभाव से जब अशुद्धि का नाश हो जाता है तब शरीर और इन्द्रियों की सिद्धि हो जाती है। तप के द्वारा क्लेशों तथा पापों का क्षय नाश हो जाने पर शरीर में तो अणिमा महिमादि सिद्धि आ जाती है, और इन्द्रियों में सूक्ष्म व्यवहित अर्थात दूर दर्शन, दूर अवण दिव्य गन्ध, दिव्य रसादि सूक्ष्म विषयों को ग्रहण करने की शक्ति भी आ जाती है। अत: योगी के लिए तप साधना नितांत आवश्यक है।

घ. स्वाध्याय :- स्वाध्याय का तात्पर्य है आचार्य विद्वान तथा गुरूजनों से वेद उपनिषद् दर्शन आदि मोक्ष शास्त्रों का अध्ययन करना। यह एक अर्थ है। स्वाध्याय का दूसरा अर्थ है स्वयं का अध्ययन करना यह भी स्वाध्याय ही है।

योग भाष्य :- 2/1 में महर्षि व्यास जी ने लिखा है -

'स्वाध्याय: प्रणव श्रीरूद्रपुरूषसूक्तादि: मन्त्राणां जप: मोक्ष्य शास्त्राध्ययभ्च'।।

अर्थात :- प्रणव अर्थात ओंकार मन्त्र का विधि पूर्वक जप करना रूद्र सूक्त और पुरूषसूक्त आदि वैदिक मन्त्रों का अनुष्ठान पूर्व जप करना तथा दर्शनोपनिषद एवं पुराण आदि आध्यात्मिक मोक्ष शास्त्रों का गुरूमुख से श्रवण करना अर्थात अध्ययन करना स्वाध्याय है।

पं0 श्री राम शर्मा के अनुसार – अच्छी पुस्तके जीवन देव प्रतिमायें है, जिनकी आराधना से तत्काल प्रकाश और उल्लास मिलता है।

पातंजल योग सूत्र में स्वाध्याय के फलों का वर्णन किया है –

स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोग: 2/44

अर्थात :- स्वाध्याय से इष्टदेवता की भलीभांति प्राप्ति (साक्षात्कार) हो जाती है।

शास्त्राभ्यास, मंत्रजप और अपने जीवन का अध्ययन रूप स्वाध्याय के प्रभाव से योगी जिस ईष्ट देव का दर्शन करना चाहता है, उसी का दर्शन हो जाता है।

ड. ईश्वर प्रविधान :- ईश्वर की उपासना या भक्ति विशेष को ईश्वर प्रविधान कहते है।

परमेश्वर के निर्मित अर्पित कर देना ईश्वर प्रविधान है।

अथर्ववेद कहता है – हे वरणीय परमेश्वर । हम जिस शुभ संकल्प इच्छा से आप की उपासना में लगे हुए है आप उसमें पूर्णत: प्रदान करें सिद्धि दें और हमारे समस्त कर्म तथा कर्मफल आप के निमित अर्पित है, इसी का नाम ईश्वर प्रणिधान है।

योग सूत्र – के 1/23 सूत्र में – 'ईश्वरप्रणिधानाद्वा'

अर्थात :- ईश्वर प्राणिधान से समाधि की सिद्धि, शीघ्र होने की बात कही है, और यही बात 2/45 सूत्र में कहा है

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्।।

अर्थात :- ईश्वर प्राणीधान से समाधि की सिद्धि हो जाती है। ईश्वर प्रणिधान से ईश्वर की अनुकम्पा होती है। उस अनुभव से योग के समस्त अनिष्ट दूर हो जाते है तब योग सिद्धि में नहीं होता, योगी शीघ्र ही योगसिद्धि को प्राप्त कर लेता है।

3. आसन :- आसन शब्द संस्कृत भाषा के 'अस्' धातु से बना है जिनका दो अर्थ है। पहला है सीट (Seat) बैठने का स्थान, दूसरा अर्थ शारीरिक अवस्था

शरीर मन और आत्मा जब एक संग और स्थिर हो जाता है, उससे जो सुख की अनुभूति होती है वह स्थिति आसन कहलाती है।

तेजबिन्दुपनिषद में आसन के विषय में कहा है –

सुखेनैव भवेत् यस्मिन्नजस्रं ब्रहमचिन्तनम्।

अर्थात – जिस स्थिति में बैठकर सुखपूर्वक निरन्तर परमब्रहम का चिन्तन किया जा सके उसे ही आसन समझना चाहिए। गीता में भगवान श्री कृष्ण ने कहा है –

योग सूत्र के अनुसार –

''स्थिरसुखमासनम्'' 2/46 यो0सू0

अर्थात :- स्थिर और सुख पूर्वक बैठना आसन कहलाता है।

4. प्राणायाम :- प्राणायाम दो शब्दों से मिलकर बना है। प्राण + आयाम ।

प्राण का अर्थ होता है, जीवनी शक्ति, आयाम के दो अर्थ है। पहला- नियन्त्रण करना या रोकना तथा दूसरा लम्बा या विस्तार करना।

प्राणवायु का निरोध करना 'प्राणायाम' कहलाता है।

योग सूत्र में प्राणायाम को इस प्रकार प्रतिपादित किया है -
''तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेद: प्राणायाम:। 2/49

अर्थात :- उसकी (आसनों की) स्थिरता होने पर श्वास-प्रश्वास की स्वाभाविक गति के नियमन करना ''प्राणायाम है।

5. प्रत्याहार :- पातंजल योग में प्राणायाम के पश्चात् प्रत्याहार का कथन एवं विवेचन उसकी उपयोगिता की दृष्टि से किया गया है। प्रत्याहार का सामान्य अर्थ होता है, पीछे हटना उल्टा होना, विषयों से विमुख होना। इसमें इन्द्रिया अपने बहिर्मुख विषयों से अलग होकर अन्तर्मुख हो जाती है, इसलिए इसे प्रत्याहार कहा गया है। इन्द्रियों के संयम को भी प्राणायाम कहते है।

त्रिशिखिब्राहनणोपनिषद के अनुसार :-

चित्तस्थ्यान्तर्मुखी भाव: प्रत्याहारस्तु सत्तम्।

अर्थात :- चित्त का अन्तर्मुखी भाव होना ही प्रत्याहार है।

महर्षि पतन्जलि ने प्रत्याहार का लक्षण निम्न प्रकार से प्रतिपादित किया है।
स्वविषयासम्प्रयोगे चित्त स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहार:।

अर्थात :- अपने विषयों के साथ इन्द्रियों का संबंध न होने पर, चित्त के स्वरूप का अनुकरण की भांति करना अर्थात् चित्त के स्वरूप में तदाकार सा हो जाना प्रत्याहार कहलाता है।

प्रत्याहार का फल बतलाते हुए महर्षि पतंजलि लिखते है –

ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम्। 2/55 यो0 सू0

अर्थात :- उस प्रत्याहार से इन्द्रियों की सर्वोत्कृष्ट वश्यता होती है अर्थात प्रत्याहार से इन्द्रियां एकदम वशीभूत हो जाती है।

5.4.2 अन्तरंग साधन

महर्षि पतंजलि ने निम्न तीन अन्तरंग साधन बताये है।

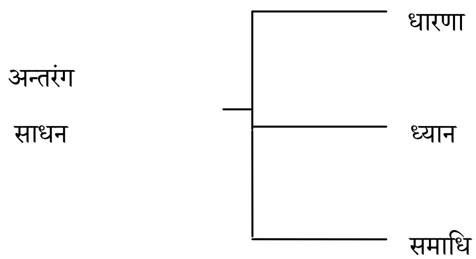

1. धारणा :- महर्षि पतन्जलि द्वारा प्रतिपादित अष्टांग योग के अन्तरंग यह योग का छठा अंग है। मन (चित्त) को एक विशेष स्थान पर स्थिर करने का नाम 'धारणा' है। यह वस्तुत मन की स्थिरता का घोतक है।

हमारे सामान्य दैनिक जीवन में विभन्न प्रकार के विचार आते जाते रहते है। दीर्घकाल तक स्थिर रूप से वे नहीं टिक पाते और मन की सामान्य एकाग्रता केवल अल्प समय के लिए ही अपनी पूर्णता में रहती है। इसके विपरीत धारणा में सम्पूर्णतः चित्त की एकाग्रता की पूर्णता रहती है।

महर्षि पतन्जलि द्वारा धारणा का निम्न लक्षण बतलाया गया है-

''देशबन्धश्चितस्य धारणा''। 3/1 यो0 सू0

अर्थात :- (बाहर या शरीर के भीतर कही भी) किसी एक स्थान विशेष (देश) में चित्त को बांधाना धारणा कहलाता है।

इसका तात्पर्य यह हुआ कि जब किसी देश विशेष में चित्त की वृत्ति स्थिर हो जाती है और तदाकार रूप होकर उसका अनुष्ठान होंने लगता है तो वह 'धारणा' कहलाता है।

2. ध्यान :- धारणा की उच्च अवस्था ध्यान है – ध्यान शब्द की उत्पत्ति ध्येचित्तायाम् धातु से होती है जिसका अर्थ होता है, चिन्तन करना। किन्तु यहाँ पर ध्यान का अर्थ चिन्तन करना नहीं अपितु चिन्तन का एकाग्रीकरण अर्थात् चित्त को एक ही लक्ष्य पर स्थिर करना।

सामान्यः ईश्वर या परमात्मा में ही अपना मनोनियोग इस प्रकार करना कि केवल उसमें ही साधक निगमन हो और किसी अन्य विषय की ओर उसकी वृत्ति आकर्षित न हो 'ध्यान' कहलाता है। योग शास्त्र के अनुसार जिस ध्येय वस्तु में चित्त को लगाना जाये उसी में चित्त का एकाग्र से जाना अर्थात् केवल ध्येय मात्र में एक ही तरह की वृत्ति का प्रवाह चलना, उसके बीच में किसी दूसरी वृत्ति का नहीं उठना 'ध्यान' कहलाता है।

महर्षि पतंजलि ने योग सूत्र में ध्यान को इस प्रकार प्रतिपादित किया है –

''तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।'' 3/2 यो0 सू0

अर्थात् :- इस देश में ध्येय विषयक ज्ञान या वृत्ति का लगातार एक जैसा बना रहना ध्यान है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि जिसमें धारणा की गई उसमें चित्त जिस वृत्ति मात्र से ध्येय में लगता है, वह वृत्ति जब इस प्रकार समान प्रवाह से लगातार उदित होता रहे कि कोई दूसरी वृत्ति बीच में न आये उसे 'ध्यान' कहते है।

3. समाधि :- अष्टांग योग में समाधि का विशिष्ट एवं महत्वपूर्ण स्थान है। साधना की यह चरम अवस्था है, जिसमें समाधि स्वयं योगी का बाह्य जगत् के साथ संबंध टूट जाता है। यह योग की एक ऐसी दशा है, जिसमें योगी चरमोत्कर्ष की प्राप्ति कर मोक्ष प्राप्ति की ओर अग्रसर होता है। और यही योग साधना का लक्ष्य है। अत: मोक्ष्य प्राप्ति से पूर्व योगी को समाधि की अवस्था से गुजरना पड़ता है। योग शास्त्र में समाधि को मोक्ष प्राप्ति का मुख्य साधन बताया गया है, योग भाष्य में सम्भवत: इसलिए योग को समाधि कहा गया है। यथा – ''योग: समाधि:'' पातंजालि योगसूत्र में चित्त की वृलियो के निरोध को योग कहा गया है। योगश्चित वृत्ति निरोध:। समाधि अवस्था में भी योगी की समस्त प्रकार की चित्तवृत्तियों निरूद्ध हो जाती है।

महर्षि पतंजलि ने समाधि का स्वरूप निम्न प्रकार से बताया है-

''तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधि:।'' 3/3 यो0सू0

अर्थात् :- जब (ध्यान में) केवल ध्येय मात्र की ही प्रतीती होती है और चित्त का निज स्वरूप शून्य सा हो जाता है, तब वह (ध्यान ही) समाधि हो जाता है।

अभ्यास प्रश्न

2. सत्य/असत्य बताये

(क) यम का वर्णन अन्तरंग साधन में मिलता है।

(ख) नियमों की संख्या छ: बताई है।

(ग) धारणा की उच्च अवस्था का नाम ध्यान है।

(घ) अस्तेय की प्रतिष्ठा होने पर सारे रत्नों की प्राप्ति हो जाती है।

5.5 सारांश

भक्तियोग जहाँ एक ओर भाव प्रधान साधको के लिए एक उत्तम साधना पद्धति है, वही दूसरी ओर महर्षि पतंजलि ने सामान्य साधको के लिए अष्टांग-योग को प्रतिपादित किया। भक्तियोग की साधना में साधक ईश्वर के प्रति अनन्य प्रेम रखकर अपने अभिष्ठ की प्राप्ति करता है। साधक भक्तियोग साधना में नवधा भक्ति, रागात्मिका भक्ति या उच्च अवस्था की परा भक्ति का सहारा लेता है। अष्टांग योग में साधक बहिरंग व अन्तरंग साधनों का उपयोग करते हुए आठ सीढ़ियों (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि) का उपयोग कर कैवल्य की प्राप्ति करता है। साधना चाहे जो भी हो पर निष्कर्ष निकलता है, कि योग का अन्तिम उद्देश्य मोक्ष की प्राप्ति है।

5.6 शब्दावली

आराध्य :- ईष्ट, ईश्वर, परमात्मा जिनकी आप पूजा करते है।

अर्थार्थी :- धन, वैभव की इच्छा वाला।

जिज्ञासु :- जानने की इच्छा रखने वाला

अवांछनीय :- गलत, गन्दे

निवृति :- दूर करना, निकालना

मित :- मीठा

ब्रुयात :- बोलना

पुरातन :- प्राचीन

अस्तेय :- चोरी ना करना

सत्य :- इन्द्रिय जनित ज्ञान

शौच :- शुद्धता

स्वाध्याय :- अपना अध्ययन, अच्छी पुस्तकों का अध्ययन

तृष्णा - असंतोष

प्रत्याहार – इन्द्रिय संयम

5.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. क. सत्य ख. असत्य ग. असत्य घ. सत्य

ड. सत्य

2. क. असत्य ख. असत्य ग. सत्य घ. सत्य

5.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. पातंजल योग प्रदीप – (1999) गीताप्रेस गोरखपुर

2. योग विज्ञान – स्वामी विज्ञानानन्द सरस्वती (2007) योग निकेतन ट्रस्ट मुनि की रेति ऋषिकेष

5.9 निबंधात्मक प्रश्न

1. नवधा भक्ति की विस्तारपूर्वक चर्चा कीजिए।

2. योग के अन्तरंग पक्षों की विस्तारपूर्वक चर्चा करें।

3. अष्टांग योग क्या है। बहिरंग पक्षो की विस्तारपूर्वक चर्चा कीजिए।

4. सिद्ध कीजिए कि यम व नियम योग की आधारशिला है।

5. टिप्पणी लिखिए

क. भक्तियोग ख. अष्टांग योग

इकाई 6 :- प्रमुख योगियों के जीवन परिचय – महर्षि पतंजलि, गोरक्षनाथ, महर्षि दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द, श्री अरविन्द, कुवल्यानन्द

6.1 प्रस्तावना
6.2 उद्देश्य
6.3 महर्षि पतंजलि का जीवन परिचय
6.4 गोरक्षनाथ का जीवन परिचय
6.5 महर्षि दयानन्द का जीवन परिचय
6.6 स्वामी विवेकानन्द का जीवन परिचय
6.7 श्री अरविन्द का जीवन परिचय
6.8 स्वामी कुवल्यानन्द का जीवन परिचय
6.9 सारांश
6.10 शब्दावली
6.11 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
6.12 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
6.13 निबंधात्मक प्रश्न

6.1 प्रस्तावना

भारतवर्ष की इस शस्य श्यामला धरा पर समय-समय पर अनेकानेक महापुरूषों, योगियों का अवतरण हुआ है। इन योगियों ने अपने जीवन के कुछ ही क्षणों में कुछ ऐसा कर दिया जिससे इनका नाम इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखा गया है। इन योगियों द्वारा प्रतिपादित योग-साधना वर्तमान तनाव व रोगों से भरी दुनिया में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही है। प्रस्तुत इकाई में भारतवर्ष के कुछ प्रमुख योगियों का जीवन दर्शन आपके समक्ष आत्मसात् करने हेतु रखा जा रहा है।

6.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई में आप

- महर्षि पतंजलि के जीवनवृत्त का अध्ययन करेंगे।
- महायोगी गोरक्षनाथ के जन्म की दन्तकथा तथा इनकी योगसाधना को जान सकेंगे।
- आर्य समाज के संस्थापक महर्षि दयानन्द के जीवन परिचय का विश्लेषण कर सकेंगे।
- स्वामी विवेकानन्द के जीवन परिचय को जान सकेंगे।
- श्री अरविन्द के जीवनवृत्त का अध्ययन करेंगे।
- स्वामी कुवल्यानन्द के बारे में जान सकेंगे।

6.3 महर्षि पतंजलि का परिचय

महर्षि पत´जलि योग के आदि प्रवर्तक के रूप में जाने जाते हैं। योग की सूत्र रूपी विभिन्न बूंदों का संकलन कर इन्होंने योगसूत्र नामक सागर की रचना की है जिसके अन्तर्गत योग की सभी पद्धतियों का समावेश हो जाता है। इनके संबन्ध में विस्तृत वर्णन पतंजलि चरित्र तथा लघुमुनि त्रिकल्पतरु में प्राप्त होता है। व्याकरण के ग्रन्थों के अनुसार अपने पिता की अंजलि से अर्घ्यदान करते समय दिव्यरूप से ऊर्ध्वलोक से आकर गिरने के कारण इनका नाम पतंजलि पड़ा। इनके द्वारा रचित कृतियों में योगदर्शन मुख्य है। यह योग का आधारभूत ग्रन्थ माना जाता है। जो चार पाद- समाधिपाद, साधनपाद, विभूतिपाद तथा कैवल्य पाद में विभाजित है।

महर्षि पतंजलि का जीवन परिचय-यह स्पष्ट रूप से ज्ञात नहीं है कि महर्षि पतंजलि का जन्म कब हुआ, किन्तु इस बात में कोई संदेह नहीं है कि महर्षि पतंजलि भगवान् कपिल के पश्चात् और अन्य चारों दर्शनकारों से बहुत पूर्व हुए हैं। कुछ विद्वानो का मत है कि पाणिनि व्याकरण का महाभाष्य तथा वैद्यक की चरक संहिता व योगदर्शन की रचना महर्षि पतंजलि ने की है। जैसे कि कहा गया है कि-

'योगेन चित्तस्य पदेन वाचा मलं शरीरस्य च वैद्यकेन।

योऽपाकरोत्तं प्रवरं मुनीनां पतंजलिं प्रा´जलिरानतोऽस्मि ।।

अर्थात् महर्षि पतंजलि ने मनुष्य के चित्त की शुद्धि के लिए योगसूत्र, वाणी की शुद्धि के लिए व्याकरण के ग्रन्थ महाभाष्य तथा शरीर की शुद्धि के लिए चरक संहिता की रचना की। ये ग्रन्थ अपने क्षेत्र के अद्वितीय ग्रन्थ माने जाते हैं। क्योंकि इसके पश्चात् इन क्षेत्रों में जो भी कार्य हुआ, इन्हीं ग्रन्थों को आधार मानकर हुआ।

एक अन्य मान्यता के अनुसार महर्षि पतंजलि को शेषनाग का अवतार माना गया है। महर्षि पतंजलि को काशी में एक बावड़ी पर पाणिनि मुनि के समक्ष सर्प रूप में प्रकट होना बतलाया गया है। पाणिनि मुनि घबराकर 'को भवान्' के स्थान पर 'कोर्भवान्' बोलते हैं। सर्प उत्तर देता है। 'सपोऽहम्'। पाणिनि पूछते हैं ''रेफः कुतो गतः'' सर्प उत्तर देता है ''तव मुखे''। इसके पश्चात् सर्प के आदेशानुसार एक चादर की आड़ लगा दी गयी। शेषनाग अपने हजारों मुखों से एक साथ प्रश्नकर्त्ताओं के उत्तर देने लगे। इस प्रकार सारा महाभाष्य तैयार हो गया। किन्तु सर्प की आज्ञा थी कि कोई पुरुष चादर को उठाकर अन्दर न देखे, एक व्यक्ति द्वारा उल्लंघन किये जाने पर शेषनाग की फुंकार से ब्राह्मणों के सारे कागज जल गये। ब्राह्मणों की दुःखी अवस्था को देखकर एक यक्ष ने जो वृक्ष पर बैठा पत्तों पर भाष्य लिखता जाता था, वे पत्ते उनके पास फेंक दिये। उन पत्तों में से कुछ को बकरी खा गयी। इसी लिए कुछ स्थानों में भाष्य में असंगति सी पायी जाती है।

''याराशर्प शिलालिभ्यां भिक्षुनट सूत्रयोः''।। (अ0 4/3/110)

अष्टाध्यायी के उपर्युक्त सूत्र में व्यास जी का पाणिनि मुनि से पूर्व होना सिद्ध होता है फिर भी पाणिनि मुनि की अष्टाध्यायी पर महाभाष्यकर्ता योगसूत्रकार पतंजलि किस प्रकार हो सकते हैं ?

जे.एच. बूड्स का मत- योगसूत्र के महर्षि पतंजलि व्याकरण महाभाष्यकार पतंजलि से भिन्न व्यक्ति थे। क्योंकि दोनों आचार्यों ने द्रव्य के लक्षण को भिन्न-भिन्न दिया है। इनकी जन्मतिथि के संबन्ध में बहुत कुछ निश्चित न होने पर भी सूत्रों में विज्ञानवाद का खण्डन होने के कारण यह कहा जाता है कि ये वसुबंध के परवर्ती थे और इसी कारण पतंजलि से इनका बहुत बाद में होना निश्चित् प्रायः है। इनका जीवन काल (300-400 ई.) के मध्य में निश्चित किया जा सकता है। बुड्स महोदय ने कई तथ्यों के आधार पर यह निश्चित् किया है कि योगसूत्रकार पतंजलि, महाभाष्यकार पतंजलि से सर्वथा भिन्न थे और उन्होंने चौथी या पाँचवीं शताब्दी में योगसूत्र की रचना की थी।

योगसूत्र में वर्णित साधनाऐं- महर्षि पतंजलि ने मनुष्य को संसार रूपी सागर को पार करने के लिए योगसूत्र में तीन प्रकार की साधनाओं का पूर्ण रूप से वर्णन किया है। चित्त वृत्ति निरोध के लिए उन्होंने योगसूत्र में कहा है-

''अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः''।। योगसूत्र 1/12

अर्थात् अभ्यास और वैराग्य के द्वारा चित्त की वृत्तियों का निरोध होता है। उनके अनुसार यह अभ्यास और वैराग्य की साधना उत्तम कोटि के साधकों के लिए उपर्युक्त है। उत्तम साधकों के लिए एक दूसरे साधन का वर्णन करते हुए महर्षि पत´जलि कहते हैं-

''ईश्वरप्रणिधानाद्वा''।। योगसूत्र 1/23

अर्थात् जो उत्तम कोटि के साधक हैं, उन्हें केवल ईश्वर के प्रति समर्पण भाव से भी योगसिद्धी हो जाती है। मध्यम कोटि के साधकों के लिए क्रियायोग बताते हुए कहा है-

''तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः'' योगसूत्र 2/1

इसके अभ्यास से भी चित्त वृत्तियों का निरोध होता है। एक तीसरी साधना अष्टांग योग- यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि बताते हुए सामान्य पुरुषों और विद्वानों के लिए चित्तवृत्तिनिरोध का उपाय कहा है। यह उनकी सर्वसामान्य व प्रचलित साधना पद्धति है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

1. एक शब्द में उत्तर दीजिए।

क. महर्षि पतंजलि को किसका अवतार जाता है।

ख. जे0ए0 वुड्स ने पतंजलि का जीवन काल किस ईसवीं में माना हैं।

ग. चित्त वृत्ति निरोध के लिए महर्षि पतंजलि ने कौन सी साधना बताई है।

घ. मध्यम कोटि के साधकों के लिए महर्षि पतंजलि ने कौन सी साधना बताई है।

6.4 गोरक्षनाथ का जीवन परिचय

महायोगी गोरक्षनाथ ऐसे ही दिव्य सर्वसिद्ध साधक हैं, जो आज भी अप्रत्यक्ष रूप से योगविद्या का प्रचार-प्रसार कर रहे हैं। माना जाता है कि सूक्ष्म सत्ता के रूप में हमारा मार्ग दर्शन करने के लिए हमारे बीच विद्यमान हैं।

महायोगी गोरक्षनाथ के जन्म के संबन्ध में विभिन्न विद्वानों द्वारा अलौकिक वृत्तान्तों का संग्रहण मिलता है। इनमें प्रायः सर्वमान्य धारणा है कि अवधूत गुरु मत्स्येन्द्रनाथ भिक्षा के लिए एक निर्धन ब्राह्मण सर्वापदयाल के यहाँ जाते हैं। भीतर ब्राह्मणी सरस्वती देवी को दुःख से व्याकुल देखकर उसे एक सुन्दर बालक की माता बनने के लिए भस्म देकर उसका भक्षण करने के लिए कहते हैं- अवधूत गुरु के जाने पर लोकव्यवहार में शंका से प्रेरित होकर ब्राह्मणी भस्म को गोबर के ढेर में डाल देती है।

लेकिन एक दिन अकस्मात् बारह वर्ष के पश्चात् वही अवधूत वेषधारी मत्स्येन्द्रनाथ पुनः आते हैं और वे उस ब्राह्मणी से मिलते हैं और उसको पूर्ववर्ती घटना का स्मरण कराते हैं। तब ब्राह्मणी अवधूत वेषधारी को उसी स्थान पर ले जाती है, जहाँ उसने बारह वर्ष पूर्व वह भस्म फेंक दी थी। योगी की दिव्य साधना से अभिप्रेरित वह भस्म ''अलखनिरंजन'' के शब्द संघात मात्र से 12 वर्ष के सुन्दर गौर वर्ण बालक के रूप में परिणत हो जाती है। तदुपरान्त योगी मत्स्येन्द्रनाथ बालक का नामकरण गोबर से उत्पन्न होने के कारण गोरक्षनाथ कहते हैं। जन्म संदर्भ के फलस्वरूप इनके जन्म को अयोनिज कहते हैं। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से योगी मत्स्येन्द्रनाथ, गोरक्षनाथ के पिता एवं गुरु माने जाते हैं। योगी गोरक्षनाथ भी स्वयं इस बात का स्पष्टीकरण कुछ इस प्रकार करते हैं-

''आदिनाथ नाती मच्छन्दरनाथ पूता।

निज तत् निहारे गोरक्ष अवधूता।। (गोरखबानी पद -37)

जन्म स्थान की अवधारणा- योगी गोरक्षनाथ के जन्म स्थान के सम्बन्ध में स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलते हैं यथा डॉ. नागेन्द्र नाथ उपाध्याय ने गुरु गोरक्षनाथ के जन्म स्थान के विषय में लगभग 17 मतों का संकलन किया जिसमें योगी गोरक्षनाथ का जन्म स्थान बंगाल में चन्द्र गिरि ग्राम बताया है।

श्री रामलाल श्रीवास्तव, महायोगी गोरक्षनाथ व उनकी तपस्थली के सम्बन्ध में लिखते हैं कि गोरक्षनाथ अवध की परम्परा के अनुसार जायस नामक नगर के एक परम पवित्र ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे। जबकि दूसरी मान्यताएं नेपाल के सुदूर ग्राम का संदर्भ देती हैं, कुछ अन्य मत पंजाब का संकेत देते हैं। गोरखपुर के श्री गोरखनाथ मन्दिर में महायोगी अवधूत गोरक्षनाथ की भव्य प्रतिमा स्थापित है। कहा जाता है कि त्रेता युग में तपस्या के दौरान योगीराज ने यहाँ ”अखण्ड धूना“ प्रज्ज्वलित किया था जो आज भी अनवरत विद्यमान है।

काल निर्णय- महायोगी गोरक्षनाथ के जन्म व मृत्यु के सम्बन्ध में यूँ तो स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलते। लेकिन कई विद्वानों ने इसे द्वापर, त्रेता एवं कलयुग तीनों में माना है। माना जाता है कि वे अमरयोगी हैं। अधिकांशतः उनका जीवनकाल 7वीं शताब्दी से 12वीं शताब्दी तक माना जाता है, जो प्रायः बहुमान्य है।

महायोगी की योगसाधना- जैसा कि पूर्ववर्ती विवरण से ज्ञात है कि स्वयं अवधूत गुरु सिद्ध मत्स्येन्द्र उनके गुरु थे तथा महासिद्ध गोरक्षनाथ ने विभिन्न आगमादि कृत्यों एवं योग अभ्यास के बल पर असंख्य सिद्धियां प्राप्त की हुई थी। कल्पद्रुम तन्त्र में गोरक्षनाथ को सिद्ध योगी बताते हुए कहा गया है-

”अहमेवाऽस्मि गोरक्षे मद्रूपं तन्निबोधत।

योगमार्ग प्रचारार्थ मायारूपमिदं धृतम्।।“

नाथ सम्प्रदाय के आविर्भाव के विषय में लिखती हुई डॉ. कल्याणी मलिक बताती हैं कि सातवीं शताब्दी से 12 वीं शताब्दी तक बौद्ध धर्म का पतन एवं शैव धर्म का अभ्युदय हुआ है तथा कालान्तर में यही शैव सम्प्रदाय कारुणिक, कापालिक, पशुपत, माहेश्वर, लकुलीस में बँट गया। इन सब में शिव को आदि संस्थापक एवं योगियों के योगी कहा है तथा इन्हीं सिद्ध की परम्परा में नाथ सम्प्रदाय का विकास हुआ, जिसके संस्थापक योगी मत्स्येन्द्रनाथ को माना जाता है तथा इनके बाद गोरक्षनाथ ने इस नाथ सम्प्रदाय को क्रान्ति का रूप देते हुए नई दिशा प्रदान की। जबकि दूसरी ओर डॉ. वेदप्रकाश जुनेजा ने नव नाथों को ही नाथ परम्परा का प्रतिनिधि माना है। जिनके नाम इस प्रकार हैं- 1. आदिनाथ, 2. मत्स्येन्द्रनाथ, 3. जालन्धरनाथ, 4. गोरक्षनाथ, 5. चरपटीनाथ, 6. कानिफा नाथ, 7. चौरंगीनाथ, 8. भर्तृहरि व 9. गोपीचन्द।

डॉ. रांगेय राघव का कहना है कि गोरक्षनाथ के पूर्व में नाथ सम्प्रदाय की उत्पत्ति हो चुकी थी तथा बचपन से ही गोरक्षनाथ पर घुमक्कड सिद्धों का प्रभाव पड़ा था। नाथ साहित्य श्रृखला में गोरक्षसंहिता, सिद्ध सिद्धान्त पद्धति, गोरक्ष पद्धति, गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह, हठयोग प्रदीपिका, विवेक मार्तण्ड, योग तारावली, अमनस्क योग, घेरण्डसंहिता, अमरौध शासनम्, महार्थ मंजरी, गोरक्ष सहस्रनाम आते हैं।

सिद्ध-सिद्धान्त पद्धति में गोरक्षनाथ भी अष्टांग योग की चर्चा करते हैं-

”यमनियमासन प्राणायाम प्रत्याहार।

धारणा ध्यान समाधयोऽष्टावंगानि।।“ (सि0सि0प0 2/32)

'योगबीज' नाम ग्रन्थ में गोरक्षनाथ ने योगमार्ग को मुक्ति मार्ग बताते हुए कहा है कि सिद्ध प्रतिपादित योगमार्ग से ही मुक्ति प्राप्त की जा सकती है।

सर्वसिद्धिकरो मार्गो मायाजालनिड्डन्तम्।

बद्धा येन विमुच्यते नाथ मार्गमतः परम।। (योगबीज 6/7)

इसी प्रकार गोरक्षनाथ योग को परिभाषित करते हुए कहते हैं-

'योऽपान प्राणयौर्ऐक्यं स्थरजो रेतसोस्तथा।

सूर्याचन्द्रमसोर्योगोद जीवात्मा परमात्मनोः।।

एवं तु द्वन्द्वजालस्य संयोगो योग उच्यते।। (योगबीज 89/90)

प्राण, अपान, रज एवं वीर्य, सूर्य एवं चन्द्र तथा जीवात्मा और परमात्मा (शिव-शक्ति) का मिलन ही योग है।

महाशक्ति कुण्डलिनी के विषय में गोरक्षनाथ वर्णन करते हैं कि यद्यपि कुण्डलिनी शक्ति अपने मूलरूप में चेतन है तथापि प्रबुद्ध न होने के कारण, सांसारिक द्वन्द्वों में भ्रमित करने के कारण बन्धनकारिणी है तथा जागृत अवस्था में शिव के स्वरूप का ज्ञान कराकर योगियों को मोक्ष प्रदान करती है।

कन्दोर्ध्व कुण्डली शक्तिः सुप्ता मोक्षाय योगिनाम्।

बन्धनाय च मूढानां यस्तां वेत्ति स योगवित्।। (गोरक्षशतक 56)

योगविभूतियां- योग साधना के बल पर गोरक्षनाथ ने अनेक सिद्धियों को प्राप्त किया जिनका वर्णन 'गोरखनाथ चरित्र' में भी देखने को मिलता है। एक कथानुसार राजा भर्तृहरि अपनी रानी पिंगला की मृत्यु हो जाने पर उसके शोक में श्मशान पर पिंगला-पिंगला की रट लगाये हुए थे। जब गोरक्षनाथ ने राजा भर्तृहरि को विलाप करते देखा तो उनके उद्धार हेतु उन्होंने एक मिट्टी का घड़ा तोड़कर वहीं घड़ा-घड़ा चिल्लाकर विलाप करने लगे। धीरे-धीरे राजा भर्तृहरि की आवाज गोरक्षनाथ की आवाज से दबने लगी। इस पर राजा भर्तृहरि गोरक्षनाथ के पास जाकर बोले कि क्यों रो रहे हो? ऐसा घड़ा तो और बन जायेगा। गोरक्षनाथ ने उत्तर देते हुए कहा घड़ा तो वैसा नहीं बन सकता, लेकिन पिंगलाएं बन सकती हैं। अकस्मात् भर्तृहरि के सामने कई पिंगलाएँ उपस्थित हो गयी। यौगिक प्रभाव को देखकर भर्तृहरि मोह से निवृत्त हुए और गोरक्षनाथ के शिष्य बन गये।

ऐसे ही एक अन्य कथानक के अनुसार एक बार गोरक्षनाथ की भेंट कानिफानाथ से हुई। स्वागतार्थ कानिफानाथ ने आम के वृक्ष से कुछ फल अपनी योग शक्ति के द्वारा अपने पास एकत्रित कर लिये। जो स्वयं पेड़ से टूट कर गये थे। दोनों ने फल खाए। खाने के बाद कुछ फल शेष बच गए। इस बात पर गोरक्षनाथ ने कानिफानाथ से कहा इन्हें जहाँ से तोड़ा है, वहीं लगा दो। परिहास में निषेधात्मक उत्तर मिला। तब गोरक्षनाथ ने अपनी अभिमन्त्रित भभूत उन आमों पर डाली। जिससे वह पुनः वृक्षों पर जाकर लटक गये। कानिफानाथ को अपनी विद्या की अल्पता का ज्ञान हुआ।

गोरक्षनाथ ने समय-समय पर विभिन्न स्थानों पर कठोर साधनाएँ की। जिसमें कुछ का प्रामाणिक विवरण जोधपुरनरेश मानसिंह द्वारा संग्रहीत 'श्रीनाथ तीर्थावली' में यथाक्रम मिलता है। भारत में सौराष्ट्र, पंजाब, उत्तराखण्ड, हिमालय के अनेक स्थानों पर, कर्नाटक, बंगाल, उड़ीसा, गोरखपुर, उत्तरप्रदेश, आदि स्थानों पर अगाध तप किया। जिसका विवरण 'नवनाथ चरित्र एवं सिद्धान्त सार' नामक ग्रन्थों में मिलता है।

इस प्रकार कई ऐसे प्रसंग गुरु गोरक्षनाथ के जीवन के संबन्ध में मिलते हैं जिनसे उनकी योगसाधना एवं सिद्धियों के विषय में पता चलता है। महायोगी गोरक्षनाथ ने इन्द्रियनिग्रह करके योग साधना के आदर्शों को सामने लाकर संयमपूर्ण जीवन की उच्चता, आडम्बर रहित जीवन की महत्ता तथा चरित्र की परमोच्च महिमा की ओर ध्यान आकृष्ट किया। वास्तव में महायोगी गोरक्षनाथ सिद्ध योगी थे जिन्हें जन्म देकर भारतमाता धन्य हुई। महायोगी गोरक्षनाथ ने आध्यात्मिकता, मानवता एवं एकता का मार्ग दिखाने का सराहनीय कार्य किया।

2. सत्य/असत्य बताइये

क. गोरक्षनाथ योगी मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य थे।

ख. डा0 रागेय राघव ने कहा कि गोरक्षनाथ के पूर्व नाथ सम्प्रदाय की उत्पत्ति हो चुकी थी।

ग. योगसूत्र हठयोग की पुस्तक है।

घ. सिद्ध-सिद्धान्त पद्धति में भी अष्टांग योग की चर्चा मिलती है।

6.5 महर्षि दयानन्द का जीवन परिचय

जन्म व प्रारम्भिक शिक्षा- महर्षि दयानन्द जी का जन्म गुजरात प्रान्त के मौरवी नामक राज्य (वर्तमान राजकोट) के अन्तर्गत 'टंकारा' नामक ग्राम में भाद्र मास की कृष्ण नवमी के दिन सन् 1824 ई. को हुआ था। इनका बचपन का नाम मूलशंकर था। इनके पिता श्री कृष्णजी तिवारी विद्वान् एवं धार्मिक प्रवृत्ति के ब्राह्मण थे। इनकी माता का नाम अमृताबाई था तथा परिवार के सभी सदस्य शिव भक्त थे। इनका जन्म मूलनक्षत्र में होने के कारण इनका नाम मूलशंकर रखा गया था। इनका बचपन बड़ा ही खुशहाल रहा। अपनी माता-पिता की पहली संतान होने के कारण परिवार के सभी लोग इन्हें बहुत प्यार करते थे।

प्रारम्भिक शिक्षा के अन्तर्गत लगभग पाँच वर्ष की आयु में मूलशंकर को देवनागरी लिपि की शिक्षा दी गयी। बचपन मे ही पिता जी ने इन्हें गायत्री मन्त्र व अनेक श्लोकों को कण्ठस्थ करा दिया था। इनके पिता सभी धार्मिक अनुष्ठानों में साथ रखते थे। इस प्रकार इनकी प्रारम्भिक शिक्षा घर पर ही चली तथा आठ वर्ष की आयु तक इन्होंने यजुर्वेद और व्याकरण के कुछ ग्रन्थों को भी कण्ठस्थ कर लिया था।

बचपन की घटनाएं- बचपन की किशोरावस्था तक घटी कुछ घटनाओं ने मूलशंकर का जीवन बदल कर रख दिया था। एक बार शिवरात्रि के दिन इनका पूरा परिवार शिव मन्दिर में जाकर रात्रि जागरण कर रहा था। शिव भक्त होने के कारण परिवार के सभी सदस्यों ने व्रत रखा हुआ था। आधी रात होते-होते मन्दिर में सभी भक्तजनों को नींद आ गयी परन्तु बालक मूलशंकर शिव जी के दर्शन की अभिलाषा रखे हुए जागता रहा। उन्हें शिव दर्शन तो हुए नहीं, परन्तु उन्होंने देखा कि एक चूहा शिवलिंग पर चढ़कर उछल-कूद कर रहा है और पास में रखा प्रसाद आदि खा रहा है। यह दृश्य देखकर बालक मूलशंकर के मन में मूर्तिपूजा के प्रति अनास्था हो गयी। परिवार व पिता के काफी समझाने पर भी बालक मूलशंकर का हृदय परिवर्तित न हो सका।

इस घटना के कुछ दिन पश्चात् इनकी बहिन का रोग के कारण देहान्त हो गया। इसके कुछ दिनों के बाद प्रिय चाचा का भी देहान्त हो गया। चाचा व बहन के प्रति मूलशंकर को काफी लगाव था। इसलिए इन दोनों की मृत्यु ने इनके हृदय को विचलित कर दिया। इस कारुणिक घटना ने इनके समक्ष जीवन की अल्पकालिकता एवं मानवीय आकांक्षाओं की अर्थहीनता को अनावृत्त कर दिया। मूलशंकर को स्पष्ट हो चुका था कि जागतिक जीवन एक क्षणिक प्रदर्शन मात्र है। तभी से इनके मन में सच्चे श्वि की खोज करने की इच्छा उत्पन्न हो गयी और इनमें वैराग्य उत्पन्न हो गया। पिता ने इनकी इस अवस्था को देख इनका विवाह करना चाहा तो लगभग 21 वर्ष की आयु में इन्होंने घर त्याग दिया।

संन्यासी जीवन की प्रवृत्ति- मूलशंकर घर का त्यागकर सयाला नामक एक गांव में गये, जहाँ एक धार्मिक सम्प्रदाय में सम्मिलित होकर उन्होंने गैरिक वस्त्र धारण कर लिये तथा शुद्ध चैतन्य ब्रह्मचारी के नाम से प्रसिद्ध हुए।

कुछ समय पश्चात् सिद्धपुर में प्रत्येक वर्ष की तरह आयोजित धार्मिक मेले में मूलशंकर की भेंट एक वैरागी से हुई जो उनके पिताजी का भी परिचित था। उस वैरागी ने मूलशंकर के पिता को एक पत्र लिखकर मूलशंकर का पता बता दिया। पत्र पाकर उनके पिता तुरन्त सिद्धपुर पहुँचे जहाँ उनकी भेंट मूलशकर से एक मन्दिर में हुई। पुत्र को गैरिक वस्त्रों में देखकर पिता अपने क्रोध पर काबू न रख सके और तभी मूलशंकर के गैरिक वस्त्र फाड़ डाले और भिक्षापात्र को तोड़ दिया। इसके पश्चात् मूलशंकर को नये वस्त्र देकर उनकी रखवाली के लिए कुछ नौकरों को नियुक्त कर दिया। रात्रि में नौकरों के गहरी नींद के समय मूलशंकर चले गये। अगले दिन पिता व नौकरों के ढूंढने पर भी मूलशंकर का पता नहीं चला। तदुपरान्त वे सब वापिस घर को लौट गये। इसके पश्चात् मूलशंकर हरिद्वार चले गये और वहाँ स्वामी पूर्णानन्द सरस्वती से संन्यास की दीक्षा ली और इनका नाम दयानन्द सरस्वती रखा गया।

सच्चे गुरु की खोज- संन्यास ग्रहण करने के पश्चात् स्वामी दयानन्द भारत के सभी धार्मिक स्थलों का भ्रमण करने लगे। सच्चे गुरु से मिलने की चाह में ये सम्पूर्ण हिमालय के भ्रमण के लिए निकल पड़े। काफी प्रयास के बाद भी जब इनकी आध्यात्मिक जिज्ञासा शान्त न हुई, तब इन्होंने विभिन्न योगियों से यौगिक क्रियाएं सीखी और छत्तीस वर्ष की आयु में मथुरा के लिए रवाना हुए, जहाँ इनकी भेंट प्रख्यात संन्यासी व संस्कृत के बहुश्रुत विद्वान स्वामी विरजानन्द से हुई । स्वामी विरजानन्द जन्मतः अंधे थे तथा वे अत्यन्त रुक्ष व कठोर स्वभाव के सन्त थे और अपना अधिकांश समय ध्यान में व्यतीत करते थे।

स्वामी दयानन्द जी ने इनको अपना सच्चा गुरु मानकर इनसे व्याकरण और आर्ष ग्रन्थों का अध्ययन किया। गुरुज्ञान प्राप्त करने के बाद एक दिन स्वामी दयानन्द ने हाथ में कुछ लौंग लेकर गुरु को दक्षिणा स्वरूप देकर कहा कि गुरुदेव मैं एक निर्धन व्यक्ति हूँ। मेरे पास आपको देने के लिए इसके अतिरिक्त कुछ और नहीं है। स्वामी विरजानन्द ने कहा- 'तुम्हारे पास जो कुछ भी है, उसे तुम स्वयं से विलग कर लो, जो शिक्षा तुमने प्राप्त की है, उसका समुचित उपयोग करो। सर्वत्र अपने इस ज्ञान का फैलाव करो, क्योंकि हिन्दू अपने धर्म को विस्मृत कर चुके हैं, उनको यथार्थ वैदिक धर्म की शिक्षा दो।'

गुरु विरजानन्द के यह कथन सुन, दयानन्द ने अवनत शिर होकर अपने गुरु को प्रणाम किया और वैदिक धर्म के पुनरुत्थान के लिए अपने जीवन को समर्पित कर देने की शपथ ग्रहण की और अपने गुरु से विदा लेकर वह तत्काल अपने कार्य में संलग्न हो गये।

वैदिक धर्म का प्रचार- वैदिक धर्म के प्रचार हेतु स्वामी दयानन्द आगरा और ग्वालियर गये जहाँ उन्होंने प्रवचन दिये और उसके पश्चात् जयपुर के लिए रवाना हो गये। जयपुर के महाराज ने उनका श्रद्धा तथा उत्साहपूर्वक स्वागत किया।

स्वामी दयानन्द ने हरिद्वार, वाराणसी तथा कलकत्ता में भाषण दिया। वह देवेन्द्रनाथ टैगोर और बाबू केशवचन्द्र सेन से मिले। उन्होंने अपने प्रवचन हिन्दी तथा संस्कृत में दिये, जिनके माध्यम से मूर्ति-पूजा का विरोध किया। मूर्ति-पूजा के विरोध में प्रवचन देने के कारण उन्हें रूढ़िवादी हिन्दुओं के क्रोध का सामना करना पड़ा। कई बार तो इन पर जानलेवा प्रहार

भी किया गया किन्तु स्वामी दयानन्द वैदिक मत का प्रचार निरन्तर करते रहे। अपने वैदिक धर्म के प्रचार-प्रसार के दौरान उन्होंने लेखन कार्य भी किया तथा सत्यार्थ प्रकाश नामक क्रान्तिकारी ग्रन्थ का सृजन किया।

आर्यसमाज की स्थापना- वैदिक धर्म के प्रचार-प्रसार हेतु स्वामी दयानन्द ने बम्बई में सन् 1875 में आर्यसमाज की स्थापना की जिसके माध्यम से सम्पूर्ण भारतवर्ष में अनेक सामाजिक कार्य किये गये। इनके प्रयत्नस्वरूप अनेक विद्यालयों, महाविद्यालयों तथा अनाथालयों की स्थापना हुई। आर्यसमाज द्वारा स्थापित गुरुकुलों में आज भी परम्परागत शिक्षा का विधान चल रहा है।

महर्षि दयानन्द समाज सुधारक के साथ-साथ एक महान योगी होने के कारण निरन्तर योग साधना में लगे रहते थे। विरोधियों द्वारा अनेकों बार विष देने के प्रयास को यौगिक क्रियाओं द्वारा ही असफल किया। स्वामी दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश के साथ साथ ऋग्वेद, यजुर्वेद का भी भाष्य किया। स्वामी दयानन्द के बढ़ते प्रभाव को देखते हुए इनके विरोधियों की भी संख्या बढ़ती गयी। स्वामी दयानन्द के स्वतन्त्रता की बात करने के कारण अंग्रेजी सरकार भी इनसे खिन्न रहती थी। प्रथम स्वाधीनता संग्राम में महारानी लक्ष्मीबाई तथा क्रान्तिवीरों के साथ भारत की स्वाधीनता के लिए भी कार्य किया। उनका कथन था कि विदेशी राज्य चाहे कितना भी अच्छा हो, स्वराज्य से अच्छा नहीं हो सकता। अतः स्वराज्य प्राप्ति के लिए पूर्ण प्रयास किया जाना चाहिए।

निर्वाण- स्वामी जी जोधपुर के महाराज यशवन्त सिंह के आमन्त्रण पर जोधपुर पहुंचे। वहाँ पर राजा को एक वेश्या के साथ देखकर उन्होंने राजा को बहुत फटकारा। इस बात से खिन्न होकर वह नन्हीजान नामक वेश्या खिन्न हो गई। उसने राजमहल के रसोइये जगन्नाथ को रिश्वत देकर इनके दूध में कांच तथा जहर मिलाकर पिला दिया। स्वामी जी को जब इस बात का पता लगा तो रसोइये को अपने पास से पैसे देकर नेपाल भाग जाने को कहा। उन्हें डर था कि मेरे बाद लोग इसे मार डालेंगे। यह बात स्वामी जी की महानता को दर्शाती है कि अपने मारने वाले के प्रति भी उनके मन में दया का भाव था। इनका बहुत उपचार किया गया किन्तु कांचमिश्रित विष इतना तेज था कि उसके कारण उनकी स्थिति बिगड़ती चली गई। जोधपुर से उन्हें चिकित्सा के लिए आबू तथा आबू से अजमेर लाया गया परन्तु यहां भी इनकी अवस्था में कोई सुधार नहीं हुआ। इतने तीव्र कष्ट होने पर भी उनके मुख पर किसी प्रकार की वेदना दिखाई नहीं देती थी, जिसको देखकर नास्तिक गुरुदत्त विद्यार्थी आस्तिक हो गया था।

सन् 1883 में कार्तिक मास की अमावस्या को स्वामी दयानन्द जी ने संध्या के समय ध्यानावस्था में बैठकर वेदमन्त्रों के उच्चारण के साथ 'प्रभु तेरी इच्छा पूर्ण हो' यह कहकर इस नश्वर शरीर को त्याग दिया।

स्वामी दयानन्द की शिक्षाएं या आर्य समाज के नियम व उद्देश्य-

- सब सत्यविद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं, उन सबका आदिमूल परमेश्वर है।
- ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान, न्यायकारी, दयाल, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्ता है। उसी की उपासना करनी योग्य है।
- वेद सब सत्य-विद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम-धर्म है।
- सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए।
- सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहिए।

- संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है अर्थात् शारीरिक एवं आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।
- सबसे प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य व्यवहार करना चाहिए।
- अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिए।
- प्रत्येक को अपनी ही उन्नति में सन्तुष्ट न रहना चाहिए, किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए।
- सब मनुष्यों को सामाजिक, सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिए और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें।

अभ्यास प्रश्न

3. बहुविकल्पीय प्रश्न

क. महर्षि दयानन्द का जन्म हुआ था

अ. 1828 ई0 ब. 1825 ई0

स. 1824 ई0 द. 1830 ई0

ख. महर्षि दयानन्द की माता का क्या नाम था

अ. अमृताबाई ब. जशोदाबाई

स. आशारानी द. भुवनेश्वरी देवी

ग. दयानन्द जी के बचपन का क्या नाम था

अ. रविशंकर ब. भूलशंकर

ब. नरेन्द्र द. शंकर

घ. आर्य समाज की स्थापना कब हुई

अ. 1872 ब. 1875

स. 1878 द. 1880

ड. स्वामी दयानन्द ने स्थापना की

अ. ब्रहम समाज की ब. आर्य समाज की

स. रामकृष्ण मिशन की द. सहज योग

6.6 स्वामी विवेकानन्द का जीवन परिचय

स्वामी विवेकानन्द का नाम, भारतीय नवजागरण के आन्दोलनों के सूत्रधारों में प्रमुख रूप से लिया जाता है। उन्होंने केवल भारत ही नहीं बल्कि विदेशों तक भारतीय आध्यात्मिकता एवं संस्कृति का प्रचार-प्रसार किया। उन्होंने अपने गुरु से आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त कर इसे आध्यात्मिक साधना के माध्यम से धर्म-जगत् में एक नया रूप प्रदान किया। उन्होंने लोगों को संदेश दिया और बताया कि मनुष्य संसार में सबसे ऊपर का प्राणी है। स्वामी विवेकानन्द ने विश्व बन्धुत्व व मानव सेवा को जन-जन तक पहुँचा इसे मुक्ति का मार्ग बताया। स्वामी विवेकानन्द ने परमहंस के उस सिद्धान्त को सर्वत्र प्रचारित किया जिसमें कहा गया है ''सर्वधर्म समन्वय''। वेद का प्रथम सूत्र है ''नर नारायण की सेवा'' । समाज की उन्नति और कल्याण के लिए सबसे अधिक आवश्यक है कि देशवासी मनुष्य बनें, वे हमेशा यह प्रार्थना करते थे कि "हे ईश्वर! मेरे देश के निवासियों को मनुष्य बनाओ।"

स्वामी विवेकानन्द के अनुसार "शरीर और आत्मा मिलकर मनुष्य बनते हैं। शरीर तो आत्मा का मन्दिर है। सुन्दर मन्दिर में सुन्दर विग्रह के रहने पर 'सोने पर सुहागा' होता है।" इसलिए शरीर रूपी मन्दिर को स्वच्छ बनाओ। हमारे पूर्वज कह गये हैं- ''शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम्'' देह मन्दिर और विग्रह आत्मा है। आत्मा ही ईश्वर है तथा आत्मा के प्रति अविश्वास का अर्थ नास्तिकता है।

जन्म एवं पारिवारिक परिचय- स्वामी विवेकानन्द का जन्म 12 जनवरी 1863 ई. को कलकत्ता के सिमालिया मुहल्ले में मुखर्जी परिवार में हुआ था। इनके पिता का नाम विश्वनाथ व माता का नाम भुवनेश्वरी था। इनके पिता एक स्वच्छन्द प्रवृत्ति के मालिक थे तथा माता सुशिक्षित तथा शालीनता सम्पन्न महिला थी। स्वामी विवेकानन्द के बचपन का नाम वीरेश्वर रखा गया था। परिवार के सभी लोग प्यार से इन्हें वीरे कहते थे। नामकरण के समय इनका नाम नरेन्द्र नाथ रखा गया था। नरेन्द्र बचपन से ही प्रतिभाशाली थे। वे एक अच्छे तैराक, कुशल अश्वारोही, कुशल पहलवान तथा संगीत के अच्छे जानकार थे।

बचपन से ही नरेन्द्र साधु-संन्यासियों से काफी प्रभावित होते थे। शायद नरेन्द्र के पूर्व जन्म के संस्कार ही थे कि एक दिन खेल-खेल में बालक नरेन्द्र शरीर पर राख लगाकर ध्यान की अवस्था में बैठ गये और वे ध्यान में इतना मग्न हो गये कि अन्य बच्चों के सांप देखकर चिल्लाने पर भी वह ध्यान से नहीं उठे। काफी देर बाद सांप के चले जाने पर परिवार के लोगों ने नरेन्द्र से सांप के बारे में पूछा तो उन्होंने कहा कि मुझे कुछ नहीं मालूम। इस घटना से बालक नरेन्द्र के अध्यात्मिक स्तर का दर्शन हो चुका था। इनकी शिक्षा पाँच वर्ष की आयु में आरम्भ हुई तथा अत्यन्त कुशाग्र बुद्धि होने के कारण ये सभी विषयों को सफलता से ग्रहण कर लेते थे। 14 वर्ष की आयु में यह अपने पिता के पास मध्य प्रदेश, रायपुर में रहते थे, जहाँ इनके पिता जी इनको व्यवहारिक शिक्षा भी दिया करते थे। 2 वर्ष रायपुर रहने के बाद वह वापस कलकत्ता आ गये तथा अंग्रजी स्कूल में शिक्षा प्राप्त करने लगे। इन्होंने सन् 1884 ई. में बी.ए. की डिग्री प्राप्त की। कालेज में विज्ञान, ज्योतिष, गणित, दर्शन, भारतीय तथा यूरोपियन भाषाओं पर समान अधिकार प्राप्त करके इन्होंने सबको आश्चर्य चकित कर दिया। इसके साथ साथ इन्होंने वेदान्त व अन्य धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन किया। कुछ समय के लिए वे ब्रह्मसमाज के अनुयायी रहे, परन्तु यहां उनकी आध्यात्मिक भूख शान्त नहीं हुई और वे ऐसे महापुरुष की तलाश में जुट गये जो उन्हें ईश्वरीय ज्ञान प्राप्त करा सके।

स्वामी रामकृष्ण का सम्पर्क- ईश्वरीय ज्ञान प्राप्त करने की प्रगाढ़ जिज्ञासा ने उनकी भेंट नवम्बर 1880 में रामकृष्ण परमहंस से करायी। उन दिनों स्वामी रामकृष्ण परमहंस जी के प्रति लोगों की बड़ी श्रद्धा थी। पहली ही भेंट में स्वामी रामकृष्ण परमहंस समझ चुके थे कि यह कोई साधारण मनुष्य नहीं है। इनसे मिलकर स्वामी रामकृष्ण ने कहा कि मैं बहुत दिनों से तुम्हारी राह देख रहा था और चाह रहा था कि मैं अपनी आत्मा की आन्तरिक अनुभूतियों को किसी योग्य पात्र को सौंप सकूँ। नरेन्द्र भी रामकृष्ण परमहंस जी से मिलकर अति प्रसन्न थे क्योंकि वे जानते थे कि उन्हें अब सद्गुरु मिल गया है। नरेन्द्र ने परमहंस जी से निवेदन किया कि मुझे शान्ति चाहिए। रामकृष्ण परमहंस के सम्पर्क में आने का कारण नरेन्द्र की ज्ञान-पिपासा ही थी। वे संसार की समस्त नदियों के समुद्र में मिलने की ही भाँति अपने इष्ट से मिलना चाहते थे। नरेन्द्र की

जिज्ञासा व ज्ञान स्तर जानकर परमहंस जी ने कहा था- 'मेरा नरेन्द्र सामान्य मानव नहीं है। वह तो ब्रह्मलोक का ऋषि है। उसमें वाल्मिकी, बुद्ध, शंकर तथा नेपोलियन की आत्माऐं प्रवेश कर गयी हैं।'

कुछ दिनों पश्चात् पिता की मृत्यु हो जाने पर परिवार के भरण-पोषण का दायित्व नरेन्द्र पर आ पड़ा। इस कार्य को पूरा करने के लिए नरेन्द्र ने नौकरी की और कभी-कभी परमहंस जी से भी मिलते रहे। गुरु परमहंस जी की कृपा से इनका अभ्यास और वैराग्य दृढ़ होता चला गया जिससे ये निर्विकल्प समाधि तक पहुँच गए। स्वामी परमहंस जी ने अपनी मृत्यु से तीन-चार दिन पूर्व नरेन्द्र को बुलाकर कहा कि मैंने अपना सबकुछ तुम्हें दे दिया है। अब तुम इस ज्ञान को जन-जन तक पहुँचाओं और सभी कार्यों को पूरा करो।

हिमालय भ्रमण- गुरु की मृत्यु पश्चात् स्वामी विवेकानन्द ने एक साधना केन्द्र की स्थापना की तथा अपने साथियों और शिष्यों सहित आध्यात्मिक भगवत् भजन में लग गये। पाँच वर्ष पश्चात् सन् 1891 में वे अपनी मित्र मण्डली को छोड़कर भ्रमण करने के लिए हिमालय की ओर निकल पड़े। वहाँ विभिन्न सिद्ध महात्माओं से सम्पर्क कर आध्यात्मिक विकास प्राप्त किया। धीरे-धीरे उनकी वेदान्त में दृढ़ आस्था हो गयी थी। भारत के विभिन्न प्रान्तों में उनके शिष्यों की संख्या बहुत अधिक हो गयी।

विदेश यात्रा- गुरु ज्ञान के प्रचार-प्रसार हेतु स्वामी जी लंका, सिंगापुर, हांगकांग, नागासाकी, ओसाका, टोकियों होते हुए कनाडा गये और वहाँ से शिकागो पहुँचे। इसी दौरान हार्वर्ड विश्वविद्यालय के प्रोफेसर जे.एच. राइट ने आपके भाषणों से प्रभावित होकर तुरन्त आगामी धर्म सभा में भाषण के लिए अवसर दिया।

11 सितम्बर 1893 ई. का दिन एक ऐतिहासिक दिन था। उस दिन भारत के इस महान् सन्त ने सभी धर्म प्रतिनिधियों को हिलाकर रख दिया। इस सभा में सभी देशों के प्रतिनिधि अपना भाषण लिखकर लाये थे जबकि स्वामी विवेकानन्द ने अलिखित भाषण दिया था।

अपने भाषण कें आरंभ में उन्होंने पाश्चात्य परम्परा के विरुद्ध मेंरे अमेरिका निवासी भाईयो तथा बहिनों जैसे ही सम्बोधित किया, वैसे ही हॉल के अधिकांश लोग खड़े होकर इस महान् सन्त के सम्मान मे कई मिनट तक तालियाँ बजाते रहे। अमेरिका के इतिहास की पहली घटना थी, स्वामी जी का भाषण सुनकर लोगों के अन्दर के तार झंकृत हो उठे। इस भाषण में स्वामी जी ने भगवत् गीता और उपनिषदों के ज्ञान का सारांश प्रस्तुत किया। धीरे-धीरे अमेरिका में स्वामी जी के भक्तों की संख्या बढ़ती गयी। लगभग तीन वर्ष रहने के पश्चात् स्वामी 16 सितम्बर 1896 में स्वदेश लौट आये। स्वदेश लौटने पर अपना प्रचार कार्य प्रारम्भ करने के साथ-साथ उन्होंने दो मठों की स्थापना की।

रामकृष्ण मिशन की स्थापना- स्वदेश लौटने पर स्वामी जी ने 1 मई 1897 को रामकृष्ण मिशन की स्थापना की, जिसका मुख्य उद्देश्य वेदान्त प्रचार व लोक सेवा करना है। इसी बीच में भारत में महामारी का प्रकोप फैलने पर स्वामी जी ने संन्यासियों की एक मण्डली सेवा कार्य में लगा दीं इसी दौरान इन्होंने कई अनाथालय और वेदान्त प्रचार के लिए विद्यालयों की स्थापना की। विदेशों में भी चल रहे आन्दोलनों की प्रगति को देखने के लिए स्वामी जी समय-समय पर विदेश भ्रमण पर रहा करते थे। अत्यधिक परिश्रम के कारण इनका स्वास्थ्य गिरने लगा। इन दिनों में वे अक्सर समाधि में लीन रहते थे। समाधि के पश्चात् वे शिष्यों को व्याकरण वेदादि पढ़ाया करते थे। इसी प्रकार आध्यात्मिक और सामाजिक कार्य करते हुए उन्होंने समाधि की अवस्था में इस पंचभौतिक शरीर को त्याग दिया। अपने इस सामाजिक व आध्यात्मिक कार्यों के लिए वे सदा के लिए भारत की धरोहर के रूप में अमर हो गये।

अभ्यास प्रश्न

4. रिक्त स्थान भरिये

क. स्वामी मी विवेकानन्द के बचपन का नाम........................था।

ख. स्वामी विवेकानन्द के पिता का नाम........................था।

ग. स्वामी विवेकानन्द के गुरू का नाम..........................था।

घ. स्वामी विवेकानन्द ने रामकृष्ण मिशन की स्थापना ....को की।

6.7 श्री अरविन्द का जीवन परिचय

श्री अरविन्द का जन्म कलकत्ता में 15 अगस्त 1872 ई. में हुआ, इनकी माता का नाम स्वर्णलता और पिता का नाम श्री कृष्णधन घोष था। पिता एक सिविल सर्जन थे। श्रीकृष्णघन इंगलैण्ड से एम.डी. की उपाधि प्राप्त किये हुए थे।

बंगाली भाषा के सर्वमान्य साहित्यकार, माडर्न रिव्यू के नियमित लेखक तथा भारतीय राष्ट्रीयता के पुरोधा राजनारायण बोस श्री अरविन्द के नाना थे।

चार वर्ष की आयु से अरविन्द की प्रारम्भिक शिक्षा दार्जिलिंग के लारेन्टो कान्वेन्ट स्कूल से आरम्भ हुई। माना जाता है कि श्री अरविन्द बाल्यकाल से ही एक होनहार मेधावी छात्र थे।

विद्यालय शिक्षा के पश्चात् श्री अरविन्द कैम्ब्रिज के किंग्स कालेज गये। जहाँ उन्होंने स्वयं को योग में सिद्ध किया। 14 वर्ष के पश्चात् भारत आकर महाराज बडौदा के यहां इन्होंने भूमि व्यवस्था तथा राजस्व विभाग में कार्य किया। इसके बाद बडौदा के ही कालेज में अंग्रेजी के प्राध्यापक नियुक्त हुए और इसी कालेज के प्रधानाचार्य के पद पर प्रोन्नत हुए। श्री अरविन्द अध्यापन के कार्य के साथ-साथ 'वन्देमातरम्' पत्र के सम्पादकीय भी लिखते थे। श्री अरविन्द की विद्वत्ता के कारण ही वे बड़ौदा के शिक्षित वर्ग के प्रेम-पात्र बन गये, जन-साधारण में श्री अरविन्द की लोकप्रियता इतनी बढ़ चुकी थी कि लोग उन्हें बड़े भैया का सम्मान देने लगे। इनका विवाह अप्रैल 1901 में मृणालिनी देवी के साथ हुआ।

अनेक भाषाओं के ज्ञाता- श्री अरविन्द ग्रीक के प्रकाण्ड पण्डित थे। उनको लैटिन, फेन्च, जर्मन तथा इतालवी भाषा का भी बहुत अच्छा ज्ञान था, पर भारतीय आर्ष ग्रन्थों से बेहद प्रभावित थे। भारत में इनको भारतीय संस्कृति जानने की इच्छा हुई, इसी कारण इन्होंने भारतीय धर्म ग्रन्थों का अध्ययन किया। जिसके फलस्वरूप भारत का एक दिव्य आध्यात्मिक रूप उनकी आंखों के सामने खड़ा हो गया। इन सब कार्यों के साथ-साथ श्री अरविन्द स्वतन्त्रता आन्दोलन से भी जुड़े रहे।

योगाभ्यास में रुचि- भारतीय संस्कृति के अध्ययन के साथ -साथ श्री अरविन्द की योगाभ्यास में भी विशेष रुचि बनने लगी थी और 1904 ई. में इन्होंने योग का अभ्यास प्रारम्भ किया। इसी समय उनकी भेंट लेले से हुई जिनके साथ श्री अरविन्द केवल तीन दिन ही ध्यान का अभ्यास कर पाये। मन की शान्ति तथा विचारों के निरन्तर दबाव से मुक्ति के लिए उन्होंने योगी लेले के अनुदेशों का पालन किया।

श्री अरविन्द ने अपने योगाभ्यास के विषय में अपने एक पत्र में लिखा- मैंने 1904 में बिना किसी गुरु के ही योगाभ्यास प्रारम्भ कर दिया। 1908 में मुझे एक मराठा योगी से इस दिशा में महत्त्वपूर्ण मार्ग-दर्शन प्राप्त हुआ, जिसके फलस्वरूप ही मुझे अपनी साधना के मूलाधार का ज्ञान प्राप्त हुआ।

श्री अरविन्द प्रतिदिन योग का अभ्यास करते थे। परन्तु 5 मई 1908 में श्री अरविन्द को विद्रोह के रूप में पकड़कर एक वर्ष के लिए अंग्रजों ने अलीपुर जेल में डाल दिया। अपने 1 वर्ष के कारावास के दौरान श्री अरविन्द ने अपना

समय गीता, उपनिषद् आदि आध्यात्मिक ग्रन्थों के अध्ययन में बिताया। इसी दौरान वे अपनी आध्यात्मिक साधना भी करते थे, धीरे-धीरे श्री अरविन्द को आत्मज्ञान होने लगा और वह धीरे-धीरे राजनीतिक गतिविधियों से दूर होते चले गये।

संस्था की स्थापना- 4 अप्रैल 1910 ई. में श्री अरविन्द कलकत्ता से चन्द्रनगर होते हुए पाण्डिचेरी पहुंचे। जहाँ धीरे-धीरे मित्रों के साथ मिलकर एक आश्रम की स्थापना की। आजकल उस आश्रम में स्थित सौ से अधिक घरों में सैकड़ों आश्रमवासी रहते हैं जो दुग्धशाला, शाक-वाटिका तथा पाठशाला आदि आश्रम की अनेक गतिविधियों में कार्यरत रहते हैं। चौदह से अट्ठारह वर्ष के छात्रों को यहाँ व्यवसायिक शिक्षा भी प्रदान की जाती है।

1920 में पॉल रिचर्ड की पत्नी मीरा श्री अरविन्द के आश्रम में गयी। आश्रम के आदर्शों तथा सिद्धान्तों से प्रभावित हो उन्होंने वहीं रहने की इच्छा की। श्री अरविन्द ने उनको आश्रम का अध्यक्ष बना दिया। आश्रमवासी उन्हें माँ कहकर पुकारते थे। प्रत्येक दिन प्रातः काल वह अपने कक्ष से सम्बद्ध खिड़की से इच्छुक भक्तों को दर्शन दिया करती हैं। श्री अरविन्द का यह आश्रम एक सर्वदेशीय आश्रम है। यहाँ ईसाई, पारसी, मुसलमान तथा अन्य मतों के प्रति आस्थावान लोग भी रहते हैं। श्री अरविन्द अपने भक्तों को प्रतिवर्ष चार बार दर्शन दिया करते थे।

श्री अरविन्द का उद्देश्य किसी व्यक्ति विशेष की मुक्ति मात्र नहीं है। संसार के आध्यात्मिक रूपान्तरण तथा मानसिक, प्राणिक और दैहिक प्रकृति एवं मानवता के जीवन में दिव्य स्वभाव के अवतरण के लिए वह कर्म के माध्यम से ईश्वरीय संकल्प को मूर्तरूप प्रदान करने के पक्षधर थे। श्री अरविन्द का कहना है- दैवी आदेश के अनुसार हमें ईश्वर की प्रकृति में विकसित होना तथा उसके सान्निध्य में रहकर उसके प्रकाश एवं उसकी शक्ति का माध्यम बनकर उसके सृष्टि व्यापार का एक उपकरण बनना है। जीवन में जो कुछ भी अशुभ है उससे विलग तथा पवित्र होकर हमें संसार में मानव-जाति को रोमांचित तथा अनुप्राणित करने वाले एक विद्युत-प्रक्षेपण यन्त्र की भांति काम करना है। इसके परिणाम स्वरूप हम अपने समीपस्थ शत्-शत् व्यक्तियों को ईश्वरीय प्रकाश, शक्ति तथा आनन्द से पूर्ण कर उन्हें ईश्वरमय बना देंगे। श्री अरविन्द की 'लाईफ डिवाइन' समस्त संसार को चिन्तन की सम्यक् दिशा प्रदान करने वाली एक सशक्त कृति है। इसकी ओजस्विता तथा उपयोगिता सर्वकालिक है।

मृत्यु- स्नानागार में फिसलने के कारण श्री अरविन्द की दांयी टांग टूट गई थी। पर्याप्त प्रयत्न करने के बाद ही वे बैशाखी का सहारा लेकर चल सके। इन्होंने साधना के साथ-साथ लेखन कार्य भी जारी रखा। जीवन के अन्तिम दिनों में इन्हें गुर्दे से सम्बन्धित बीमारी हो गयी थी, लेकिन बीमारी के बावजूद वे शान्त बने रहते थे। इसी बीमारी के कारण 5 दिसम्बर 1950 ई. को उनका देहान्त हो गया।

अरविन्द भारतीय नवजागरण के सर्वोत्तम देश-भक्त, बुद्धि वादियों में सर्वाधिक कुशाग्र बुद्धि और द्रष्टाओं में सर्वाधिक सूक्ष्म द्रष्टा थे। वे भारतीय संस्कृति व आध्यात्मिक ज्ञान को लोगों तक पहुँचाने में सफल रहे। इसके अतिरिक्त उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया कि भारतीय संस्कृति जो समुचित संश्लेषणों में कुशल है, वह प्राच्य तथा पाश्चात्य संस्कृतियों के बीच परस्पर विरोध का दर्शन न कर उनमें तादात्म्य-स्थापन कर सकता है। श्री अरविन्द का जीवन दिव्य था। उन्होंने संसार को भी दिव्य जीवन व्यतीत करने का आदेश दिया। उनकी कृति लाईफ डिवाइन में उल्लिखित उनके उपदेश मनुष्य जाति को अनन्त काल तक अनुप्राणित करते रहेंगे।

अभ्यासार्थ प्रश्न

5. एक शब्द में उत्तर दीजिए

क. श्री अरविन्द का जन्म कब और कहाँ हुआ था।

ख. प्रारम्भिक शिक्षा श्री अरविन्द ने किस कॉलेज से ली।

ग. श्री अरविन्द का विवाह किससे हुआ।

घ. श्री अरविन्द का देहावसान कब हुआ

6.8 स्वामी कुवल्यानन्द का जीवन परिचय

जब भारतवर्ष में देशभक्ति की भावना व क्रान्ति का बिगुल बज रहा था, उसी समय 30 अगस्त, 1883 को गुजरात के डमोई गाँव में कुवलयानन्द का जन्म हुआ था। बचपन में स्वामी कुवलयानन्द को बालक जगन्नाथ गणेश कहकर पुकारा जाता था। बचपन से ही स्वामी कुवलयानन्द की जीवन कठिन परिस्थितियों से भरा था। स्वामी जी अपने विद्यार्थी जीवन में एक मेधावी व कुशाग्र बुद्धि वाले छात्र के रूप में जाने जाते थे। विद्यार्थी जीवन से ही ये देशभक्ति और भारतीय संस्कृति से अत्यन्त प्रभावित थे। इसी कारण वे लोकमान्य तिलक तथा श्री अरविन्द जैसी महान् विभूतियों से प्रभावित रहे। एक बार तो विद्यार्थी जीवन छोड़ वे स्वतन्त्रता आन्दोलन में ही कूद पड़े लेकिन सहयोगियों और शुभचिन्तकों के समझाने पर पुनः अपनी शिक्षा जारी रखी। 1903 में उन्होंने मैट्रिक परीक्षा पास कर संस्कृत छात्रवृत्ति भी प्राप्त की। 1907 से 1910 के मध्य स्वामी जी ने शारीरिक शिक्षा के विषय का गहन अध्ययन किया और इस विषय के भारतीय पहलु को भी जाना। 1919 में मालसर के परमहंस माधवदास जी महाराज के संपर्क में आये, जिनसे स्वामी जी ने योग एवं उससे संबन्धित पहलुओं को समझा। योग के अनेक लाभकारी पहलुओं से प्रेरित होकर उन्होंने अपना जीवन योग के प्रचार-प्रसार के लिए समर्पित कर दिया और निम्न जीवन आदर्श बनाकर अध्ययन आदि में जुट गये-

- उचित माध्यमिक एवं उच्च शिक्षा के क्षेत्र से देशभक्त ढूंढना व एकत्र करना।
- शारीरिक शिक्षा के भारतीय पहलुओं को साधारण शिक्षा से जोड़ना।
- विज्ञान व आध्यात्मिकता को एक ही मंच पर प्रस्तुत करना।

स्वामी जी का यह वैज्ञानिक दृष्टिकोण योग के प्रचार, प्रसार एवं विकास में बहुत ही सार्थक रहा, उनके द्वारा किये गये अनेकों प्रयोगों से योग जैसी रहस्यमय विद्या का सामान्य व्यक्ति के लिए समझना सरल हो गया। परमपूज्य परमहंस जी के सानिध्य में योग क्रियाओं संबन्धी ज्ञान प्राप्त करते समय स्वामी जी ने अपने शारीरिक व मानसिक स्तर पर कई आश्चर्यजनक प्रभाव महसूस हुए, जिससे उनकी आस्था योग पर और भी दृढ़ हो गई। योग के प्रभाव इतने चमत्कारिक थे कि स्वयं स्वामी जी के पास उनका कोई वैज्ञानिक आधार नहीं था।

आगे स्वामी जी ने मानव शरीर रचना व क्रिया से संबन्धित विस्तृत अध्ययन किया एवं समय-समय पर नये-नये प्रयोग करके अपने ज्ञान का विस्तार करते गये। स्वामी जी शीघ्र ही इस बात से अवगत हो चुके थे कि योग भारत की प्राचीनतम् विद्या है जिससे अनेक प्रकार के लाभ प्राप्त किये जा सकते हैं तथा भारत में ऐसे योगियों की भी कमी नहीं है जिनके पास अत्यन्त गोपनीय योग संबन्धी ज्ञान हैं। अब यह आवश्यक बन चुका था कि इस योग को आधुनिक विज्ञान के साथ जोड़ कर एक नयी दिशा दी जाए।

तत्कालीन मान्यताएँ थीं कि योग एक आध्यात्मिक, अतिविशिष्ट एवं सर्वोत्कृष्ट अनुभव है जो वैज्ञानिक प्रयोगों से परे है तथा इस योगविद्या से प्राप्त बहुमूल्य अनुभवों को सामान्य व्यक्तियों से दूर रखा जाए। ऐसी विपरीत परिस्थितियों में स्वामी कुवलयानन्द ने ही योग के वैज्ञानिक दृष्टि कोण की जिज्ञासा को अनुसंधान और प्रयोगों के क्षेत्र में बढाया और शीघ्र ही वे अपनी शोध प्रक्रिया में आगे बढ़ते हुए चरम पर पहुँचे। इसी विचार को अपने जीवन का एकमात्र ध्येय बनाते हुए योग क्रियाओं के वैज्ञानिक विश्लेषण पर कार्य किया। इसी दौरान उन्होंने दो यौगिक क्रियाओं 'उड्डियान व नौलि' पर प्रयोग किये और बताया कि सामान्यतः बड़ी आंत का दाब एवं बाहर का वातावरणीय दाब समान होता है परन्तु नौलि क्रिया के अभ्यास के दौरान बड़ी आंत के भीतर का दबाव बाह्य वातावरण के दबाव की तुलना में कम हो जाता है और इस प्रकार निर्वात की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। स्वामी जी ने इस निर्वात को 'निगेटिव प्रेशर' या अपने गुरुदेव के नाम पर 'माधवदास

वैक्यूम' रखा है। अपने इस शोध का वर्णन स्वामी जी ने रविन्द्रनाथ टैगोर, जगदीश चन्द्र बोस, डॉ. नाथगिरी आदि ख्याति प्राप्त लोगों के समक्ष प्रस्तुत किया, जिससे स्वामी जी को काफी प्रशंसा मिली। स्वामी जी स्वयं भी इस परिणाम से सकारात्मक थे और आगे चल कर उन्होंने आसन, प्राणायाम, मुद्राएं और अनेको यौगिक क्रियाओं पर अनुसंधान किये।

आधुनिक भारत के योगियों में स्वामी कुवलयानन्द कई विभिन्न दृष्टियों से श्रेष्ठ हैं, स्वामी जी ने कई मिशनों में उत्साह के साथ कार्य किया और यह विचार दिया कि योग मानवता के विकास के लिए अत्यन्त उपयोगी साधन है। स्वामी जी वैज्ञानिक अन्वेषणकर्ता के दृष्टिकोण के साथ-साथ भारतीय बौद्धिक एवं पारम्परिक धार्मिक विचारधारा के भी समर्थक थे। स्वामी जी का ईश्वर के प्रति विशेष विश्वास था। वे हमेशा ही ज्ञान, कर्म, भक्ति को प्रचारित करने वाले व्यक्तियों से प्रेरित रहते थे। स्वामी जी अपने व्याख्यानों में प्रेम-पूर्वक तरीके से ईश्वरीय भक्ति के विषय में प्रेरणा देते थे। वे अपना प्रत्येक कार्य ईश्वर के प्रति समर्पण एवं प्रार्थना भाव से करते थे, उनकी इस भावना का विचार कैवल्यधाम से प्रकाशित होने वाली पत्रिका योगमीमांसा के प्रत्येक अंक में देखने को मिलता है।

स्वामी कुवलयानन्द जी ने योग को वैज्ञानिक दृष्टिकोण देकर इसे जन-साधारण के लिए उपलब्ध कराया। यह वह समय था जब योग केवल साधु-संन्यासियों के लिए तथा जंगल में करने की विधि माना जाता था। स्वामी जी ने योग को एक क्रान्ति का रूप देकर अक्टूबर 1924 में दशहरे के दिन लोनावाला के निकट बालवन नामक गाँव में कैवल्यधाम योग आश्रम की स्थापना की। यहीं उन्होंने कुवलयानन्द नाम भी आत्मसात् किया तथा पूर्ण ऊर्जा एवं धैर्य के साथ अपना कार्य प्रारम्भ किया। स्वामी जी का यह कैवल्यधाम वैज्ञानिक तरीके से योग शिक्षा और चिकित्सा देने वाली प्रथम संस्था है। कैवल्यधाम की स्थापना के तुरंत बाद स्वामी जी ने योग मीमांसा नामक योग पत्रिका का प्रकाशन शुरु किया। इस पत्रिका में योग अनुसंधान संबन्धी लेख छपने के कारण यह योगपत्रिका का रूप ले चुका था और देश-विदेश में प्रचलित था। इन सबसे प्रभावित होकर स्वामी जी के आश्रम को अनेक लोगों से आर्थिक सहयोग प्राप्त हुआ।

पोरबंदर के राणा साहब की सहायता से कैवल्यधाम लोनावला में राजा नटवर सिंह पैथोलॉजी लैब की स्थापना की गयी, जिसमें अनेक आधुनिक उपकरणों को लगाया गया। आगे चलकर कैवल्यधाम की शाखा रूपी स्वास्थ्य केन्द्र बम्बई में स्थापित किया गया, जो कि श्रीचुन्नीलाल मेहता की आर्थिक सहायता से प्रारम्भ किया गया जिसका नाम इन्हीं के पुत्र के नाम पर ईश्वरदास चुन्नीलाल यौगिक हैल्थ सेंटर रखा गया। इसी प्रकार सौराष्ट्र की राजकुमारी के आर्थिक सहयोग से कैवल्यधाम आश्रम की एक अन्य शाखा खोली गयी। सन् 1944 में योग साहित्य के शोध और योग प्रचार-प्रसार को ध्यान में रखते हुए स्वामी जी ने कैवल्यधाम श्रीमन् माधवयोग मन्दिर समिति की स्थापना की। लोनावला में सन् 1961 में पहला यौगिक अस्पताल स्वामी कुवलयानन्द द्वारा स्थापित किया गया, जिसमें 1963-64 में अस्थमा के ऊपर शोध कार्य किया गया। आधुनिक विज्ञान और प्राचीन योग के सम्मिलित प्रयास से प्रभावित होकर विभिन्न राज्य सरकारों ने स्वामी जी के साथ मिलकर यौगिक अभ्यास कार्यक्रमों का आयोजन किया।

योगविद्या के अलावा स्वामी जी संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् भी थे। अपने व्यस्त जीवनचर्या के बावजूद कभी-कभी श्री कृष्ण के प्रति भावोद्गार स्वरूप कुछ पद्य भी लिखे। इस प्रकार कहा जा सकता है कि योग के प्रचार-प्रसार में स्वामी जी ने अतुलनीय योगदान दिया। उनके द्वारा किये गये कार्य ही आज योग विज्ञान विषय के लिए नीव का कार्य कर रहे हैं।

अभ्यास हेतु प्रश्न

6. सत्य/असत्य बताइये

क. स्वामी कुवलयानन्द का जन्म 30 अगस्त 1883 को हुआ था।

ख. स्वामी कुवलयानन्द ने बिहार स्कूल ऑफ योगा की स्थापना की।

ग. स्वामी कुवलयानन्द ने योग को वैज्ञानिक दृष्टिकोण देकर जन साधारण के लिए उपलब्ध कराया।

घ. स्वामी कुवलयानन्द संस्कृत के भी प्रकाण्ड विद्वान थे।

6.9 सारांश

योग भारतवर्ष की अमूल्य धरा है। भारतवर्ष की इस पवित्र धरती पर समय-समय पर अनेकानेक योगियों ने जन्म लिया और ये योगी जीवन भर अपने ज्ञान व शक्ति का प्रयोग लोक कल्याणार्थ करते गये। निश्चित ऐसे महामानवों ने 'योग' रूपी मानवकल्याणकारी विद्या को अपनाकर समाज, राष्ट्र व विश्व को एक नई दिशा दी। आजकल के भागदौड़ के जीवन में जब व्यक्ति किसी न किसी रूप से परेशान है तो वह इन योगियों के चिन्तन को आत्मसात कर अपनी परेशानियों से निजात पा सकता है। महर्षि पतंजलि द्वारा प्रतिपादित योगसूत्र आत्मकल्याण का विषय तो है ही साथ-साथ वर्तमान में बढ़ते मानसिक रोगों के लिए रामवाण है। गोरक्षनाथ जो हठ-योगी थे वर्तमान में हठयोग के विविध अभ्यासों से हर कोई व्यक्ति परिचित है। आज जब वैचारिक व सांस्कृतिक प्रदूषण इतना बढ़ रहा है तो युवा पीढ़ी पतन की ओर जा रही है ऐसी स्थिति में स्वामी विवेकानन्द, दयानन्द और श्री अरविन्द के विचार उनमें परिवर्तन ला सकते है। योग के विविध अभ्यासों शोध व अनुसंधान का दौर चल पड़ है स्वामी कुवलयानन्द जी ने यौगिक अभ्यासों का आधुनिक विज्ञान के अनुसार विवेचन किया है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि योगियों द्वारा प्रतिपादित योग विद्या से व्यक्ति सामान्य मनुष्य से महामानव बन सकता है।

6.10 शब्दावली

उर्ध्वलोक – संसार, जमीन

चित्त – मन, बुद्धि तथा अहंकार का सम्मिलित रूप

क्रियायोग – तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर प्रणिधान का सम्मिलत रूप

गोमय – गाय के गोबर का एकत्र ढेर

काल – समय

प्रवृत्ति – आदत

वैरागी – जिसे कोई चाह नहीं, राग रहित

आत्मज्ञान – आत्मा का ज्ञान

उड्ड्यान बन्ध – हठयोग की क्रिया जिसमें उदर क्षेत्र को संकुचित किया जाता है।

नौलि – हठयोग की क्रिया जिसमें उदर क्षेत्र को संकुचित किया जाता है।

6.11 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1.

क. शेषनाग का ख. 300 से 400 ई0

ग. अभ्यास और वैराग्य घ. क्रियायोग

2.

क. सत्य ख. सत्य

ग. असत्य घ. सत्य

3.

क. स ख. अ

ग. ब घ. अ ड. ब

4.

क. नरेन्द्र ख. विश्वनाथ मुखर्जी

ग. रामकृष्ण घ. 1 मई 1897

5.

क. 15 अगस्त 1877 को कलकत्ता ख. लारेन्टो कान्वेन्ट स्कूल

ग. मृणालिनी देवी घ. 5 दिसम्बर 1950

6.

क. सत्य ख. असत्य

ग. सत्य घ. सत्य

6.12 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. विश्वनाथ मुखर्जी – भारत के महान योगी (2003) अंक 1-14 अनुराग प्रकाशन चौक वारणसी।

2. नरेन्द्र कोहली – तोड़ों कारा तोड़ों (2006) किताबहार प्रकाशन 4855-56/24

अंसारी रोड दरियागंज नई दिल्ली।

3. डॉ0 उमेशपुरी 'ज्ञानेश्वर' भगत माला; भारत के सन्त और भक्त (2008) रणधीर प्रकाशन रेलवे रोड हरिद्वार।

6.13 निबंधात्मक प्रश्न

1. महर्षि पतंजलि के जीवन दर्शन को लिखिए।
2. महायोगी गोरक्षनाथ का जीवन परिचय देते हुए इनकी योग साधना के विषय में लिखिए।
3. स्वामी दयानन्द का जीवन परिचय तथा योग साधना बताइये
4. निम्न योगियों की योग साधना संक्षिप्त में दीजिए -

(अ) स्वामी विवेकानन्द (ब) स्वामी कुवलयानन्द

(स) गोरक्षनाथ (द) श्री अरविन्द

इकाई 7 :- चित्त, चित्त भूमि, चित्तवृत्ति, अभ्यास वैराग्य

7.1 प्रस्तावना
7.2 उद्देश्य
7.3 चित्त
7.4 चित्त भूमि
7.4.1 क्षिप्त
7.4.2 मूढ
7.4.3 विक्षिप्त
7.4.4 एकाग्र
7.4.5 निरूद्ध
7.5 चित्त वृत्ति
7.5.1 प्रमाणवृत्ति
7.5.2 विपर्यवृत्ति
7.5.3 विकल्पवृत्ति
7.5.4 निद्रावृत्ति
7.5.5 स्मृतिवृत्ति
7.6 अभ्यास व वैराग्य
7.7 सारांश
7.8 शब्दावली
7.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
7.10 सन्दर्भ ग्रन्थ
7.11 निबंधात्मक प्रश्न

7.1 प्रस्तावना

भारतीय दार्शनिक परम्परा में षठदर्शन-न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा तथा वेदान्त का महत्वपूर्ण स्थान है। वास्तव में षठदर्शनों की मान्यताएँ अलग है फिर भी उन्हें एक दूसरे का पूरक कहा जाता है। सांख्य की मान्यताएँ योग से मिलती है इसलिए सांख्य को योग का सैद्धान्तिक पक्ष तथा योग को सांख्य का व्यवहारिक पक्ष कहा जाता है। योग दर्शन की साधना पद्धतियों का अगर अवलोकन करें तो प्रारम्भ में ही चित्त, चित्त भूमियों तथा वृत्तियों का वर्णन मिलता है। इन वृत्तियों को रोकने के लिए अभ्यास व वैराग्य नामक दो साधनाये बताई गई है जिसका प्रस्तुत इकाई में विस्तार से वर्णन किया जा रहा है।

7.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के बाद में

- आप चित्त की अवधारणा को जान सकेंगे
- चित्त भूमियों का विस्तार से अध्ययन कर सकेंगे।
- चित्त वृतियों का सम्यक् विश्लेषण कर सकेंगे।
- चित्त वृतियों के निरोध के लिए उपयुक्त साधनों को जान सकेंगे।

7.3 चित्त

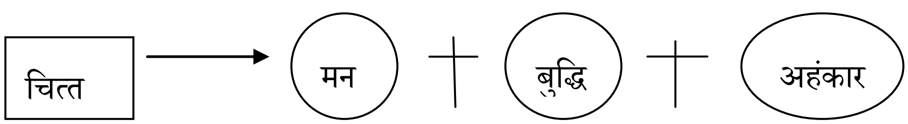

'चित्त' शब्द की व्युत्पत्ति 'चिति संज्ञाने' धातु से हुई है। ज्ञानानुभूति के साधन को चित्त कहा जाता है। व जीवात्मा को सुख-दुःख के भोग हेतु यह शरीर प्राप्त हुआ है। जो भी अच्छा या बुरा कर्म किया जाता है, या सुख दुःख का भोग किया जाता है, वह इस शरीर के माध्यम से ही सम्भव है। कहा भी है 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्' अर्थात् प्रत्येक कार्य सम्पादन करने का साधन यह शरीर ही है। इस शरीर में दो प्रकार के साधन हैं, जिन्हें बाह्यकरण व अन्तःकरण के नाम से जाना जाता है। बाह्यकरण के अन्तर्गत हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ एवं कर्मेन्द्रियाँ आती हैं। जिनका व्यापार बाहर की ओर अर्थात् संसार की ओर होता है। बाह्य विषयों के साथ इन्द्रियों के सम्पर्क से अन्तस् में आत्मा को जिन साधनों से ज्ञान-अज्ञान या सुख-दुःख की अनुभूति होती है, उन साधनों को अन्तःकरण के नाम से जाना जाता है। यही अन्तःकरण चित्त के अर्थ में लिया जाता है। योग दर्शन में मन, बुद्धि, अहंकार इन तीनों के सम्मिलित रूप को चित्त के नाम से प्रदर्शित किया गया है। परन्तु वेदान्त दर्शन अन्तःकरण चतुष्टय की बात करता है, वह में, बुद्धि, अहंकार और चित्त इन चारों के सम्मिलित रूप को अन्तःकरण नाम देता है। योग दर्शन की ही भाँति मन का कार्य संकल्प-विकल्प करना, बुद्धि का कार्य निश्चय करना, अहंकार का कार्य सत्तात्मक भाव लाना व स्वत्व-परत्व जोड़ना मानता है। साथ ही वह चित्त का कार्य स्मरण कराना मानता है। व्यवहार में मन, बुद्धि और चित्त को प्रायः पर्याय के रूप में प्रयोग किया जाता है। सांख्य भी बुद्धितत्व को चित्त के अर्थ में ही लेता है।

चित्त का स्वरूप अत्यन्त विलक्षण है। यद्यपि यह आत्मा से भिन्न तत्व है फिर भी आत्मा से पृथक् करके इसको देखना अत्यन्त कठिन है। चित्त प्रकृति का सात्विक परिणाम है। अतः प्रकृति का कार्य है। प्रकृति त्रिगुणात्मक है। अतः चित्त भी त्रिगुणात्मक है। सत्व की प्रधानता होने के कारण इसको प्रकृति का प्रथम परिणाम माना जाता है।

सांख्य और योग के मत में चित् चिति, चैतन्य पुरुष और आत्मा ये सब पर्यायवाचक शब्द हैं। चित् अपने आप में अपरिणामी, कूटस्थ और निष्क्रिय है। इसी चित् अथवा पुरुष तत्व को भोग और मोक्ष देने के लिए इसके साथ प्रकृति का संयोग होता है। प्रकृति का प्रथम परिणाम रूप बुद्धि या चित्त तत्व ही भोग और मोक्षरूप प्रयोजन की सिद्धि करता है।

चित् के संयोग से बुद्धि चित्त कहलाती है- 'चिद्युक्तं चित्तम्' यही चित्त शब्द की व्युत्पत्ति है। 'चिद्युक्तम्' का अर्थ यह है कि पुरुष के सम्पर्क से बुद्धि चेतनवत् हो जाती है। इसी लिए उसे चित्त कह दिया गया है। चेतनवत् होते ही चित्त में कार्य करने की क्षमता आ जाती है। चित्त के सम्पर्क से पुरुष में यह परिवर्तन आया कि वह चित्त के किये गये कार्यों को अपना कार्य मान बैठा। जो कर्तृत्व और भोक्तृत्व चित्त का धर्म था, अहंकारवश पुरुष स्वयं को कर्ता और भोक्ता मान बैठा।

यद्यपि चित्त एक है, किन्तु त्रिगुण का परिणाम अनेकविध होने से यह अनेक सा प्रतीत होता है। चित्त को अन्तः करण या अन्तरिन्द्रिय कहा जाता है। योगदर्शन में अन्तःकरण के लिए चित्त शब्द का प्रयोग किया गया है। न्यायदर्शन में अन्तःकरण के लिए मन शब्द का व्यवहार हुआ है। अद्वैत वेदान्त में अन्तःकरण के चार भेद स्वीकार किये गये हैं- मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त।

7.4 चित्तभूमि

चित्त में प्रकृति के तीनों गुण सत्व, रज और तम विद्यमान हैं। सबके चित्त एक समान नहीं हैं। व इन तीनों की विभिन्न स्थितियों के कारण चित्त भी विभिन्न स्थितियों वाला हो जाता है। योग दर्शन में चित्त की स्थितियों को क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध इन पाँच स्थितियों में बाँटा है। जिन्हें चित्त की अवस्थायें या चित्तभूमि के नाम से भी जाना जाता है।

7.4.1 क्षिप्त- क्षिप्तावस्था पूर्णतया रजोगुणी अवस्था है। इस अवस्था वाला चित्त चंचल बना रहता है। वह निरन्तर विषयों की ओर भागता रहता है। यह रजोगुण की प्रधानता के कारण होता है। क्योंकि रजोगुण का धर्म है क्रियाशीलता इसलिए रजोगुण से युक्त चित्त भी निरन्तर क्रियाशील बना रहता है। वह किसी भी विषय पर स्थिर नहीं हो पाता, एक विषय प्राप्त होने पर वह तुरन्त दूसरे विषय की ओर दौड़ने लगता है। इसी कारण चित्त में दुःख की उत्पत्ति होती है।

7.4.2 मूढ़- मूढ़ावस्था पूर्णतया तमोगुणी अवस्था है। तमोगुण की प्रधानता होने के कारण चित्त की इस अवस्था में चित्त में अज्ञान बना रहता है। बुद्धि में जड़ता होती है, विषयों के यथार्थ ज्ञान का अभाव होता है। इसी कारण विषयों के प्रति इस अवस्था में मोह उत्पन्न होता है तथा ऐसे चित्त से युक्त जीवात्मा संसार में फंसा रहता है।

7.4.3 विक्षिप्त- चित्त की यह अवस्था भी पूर्णतया रजोगुणी होती है। किन्तु कभी-कभी उसमें सत्वगुण का उद्रेक उत्पन्न हो जाता है। इस अवस्था में जब चित्त में रजोगुण प्रधान होता तो वह बहिर्मुख होकर विषयों की ओर भागता रहता है और जब कभी सत्वगुण बढ़ जाता है तो चित्त में वैराग्य का भाव उत्पन्न हो जाता है और कुछ समय के लिए चित्त अन्तर्मुखी हो जाता है। किन्तु बार-बार गुणों की अवस्था परिवर्तित होने के कारण चित्त की इस अवस्था में भी स्थिरता का अभाव होता है। इसीलिए इस अवस्था को विक्षिप्तावस्था कहा जाता है। यह अवस्था क्षिप्त तथा मूढ़ से कुछ श्रेष्ठ कही जा सकती है।

7.4.4 एकाग्र- चित्त की यह अवस्था पूर्णतया सत्वगुणी होती है। रज व तम दोनों न्यून हो जाते हैं। अब रजोगुण केवल सात्विकवृत्ति को क्रियाशील बनाये रखने का कार्य करता है तथा तमोगुण उस सात्विक वृत्ति को स्थिर बनाये रखने का कार्य करता है। जिससे विषयों का यथार्थ ज्ञान चित्त में उत्पन्न होने लगता है। साथ ही वैराग्य भाव दृढ़ होने लगता है तथा चित्त में सुख की उत्पत्ति होती है। ध्यान की यही अवस्था है। इसी अवस्था को सम्प्रज्ञात योग कहा जा सकता है।

7.4.5 निरुद्ध- चित्त की यह अवस्था त्रिगुणातीत अवस्था ही है। निरन्तर अभ्यास से सभी विषयों का ज्ञान प्राप्त करने पर समस्त वृत्तियाँ समाप्त हो जाती हैं। जिससे चित्त शान्त हो जाता है। विवेकख्याति वृत्ति भी परवैराग्य द्वारा हटाने के बाद निर्बीज ,या असम्प्रज्ञात समाधि की स्थिति है। सर्ववृत्तिनिरोध होने के कारण द्रष्टा की स्वरूपस्थिति इस अवस्था के पश्चात् आ जाती है।

शास्त्रों में चित्त को स्वच्छ दर्पण के समान या शुद्ध स्फटिक मणि के समान बताया है। जैसे ये दोनों सम्पर्क में आने वाले विषयों के आकार को ग्रहण कर तदाकार हो जाते हैं, उन्हीं के रूप-रंग को धारण कर लेते हैं। उसी प्रकार चित्त भी जब इन्द्रियों के माध्यम से विषयों के सम्पर्क में जाता है तो वह भी उसी विषय के आकार को ग्रहण कर लेता है। जिसे चित्त का विषयाकार होना या चित्त का परिणाम कहा जाता है।

7.5 चित्तवृत्ति

चित्त का रूपान्तरण ही वृत्ति है। चित्त स्फटिक मणि के समान निर्मल तत्व है। उसका अपना कोई आकार नहीं होता। जिस विषय के सम्पर्क में वह आता है उसी के समान आकार को धारण कर लेता है। यह विषयाकारता ही वृत्ति कहलाती है। वृत्ति व्यापार को कहा जाता है। चक्षु आदि इन्द्रियों का अपने रूप आदि विषयों के साथ सम्बन्ध होना व्यापार है। बाह्यकरण चक्षुआदि का जो व्यापार है, वही व्यापार अन्तःकरण चित्त का रहता है।

क्लेशों के कारण वृत्तियों के दो भेद माने गये हैं। परन्तु वास्तव में ये वृत्तियां पाँच है। उन पाँचों वृत्तियों के भी दो-दो भेद होते हैं। कहा गया है-

वृत्तयः प´चतÕयः क्लिष्टाऽक्लिष्टाः। योगसूत्र- 1/5

अर्थात् वृत्तियाँ पाँच प्रकार की हैं, जो क्लेश की उत्पादक और अक्लेश का विनाश करने वाली हैं। क्लेश पाँच प्रकार के कहे गये हैं- अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश। अविद्या आदि क्लेशों के सहयोग से इन्द्रियों की विषयों मे प्रवृत्तिरूप वृत्तियाँ दुःख आदि को उत्पन्न करती हैं। जिन वृत्तियों के हेतु अविद्या आदि क्लेश नहीं हैं, प्रत्युत आध्यात्मिक भावनाओं से प्रेरणा पाकर इन्द्रिय-वृत्तियाँ उभरती हैं वे 'अक्लिष्ट' हैं, दुःख आदि को उत्पन्न करने के बजाय वे उनके नाश करने में सहयोगी होती हैं। ये वृत्तियाँ अभ्यासी को विवेकख्याति की ओर अग्रसर करती हैं, एवं उस लक्ष्य तक पहुँचाती है। इन पाँच वृत्तियों को निम्नवत् जान सकते हैं- 1. प्रमाण, 2. विपर्यय, 3. विकल्प, 4. निद्रा तथा 5. स्मृति-

'प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः।' योगसूत्र& 1/6

7.5.1 प्रमाणवृत्ति - 'प्रमा करणं प्रमाणम्' अर्थात् प्रमा (ज्ञान) के करण (साधन) को प्रमाण कहते हैं अथवा 'प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणम्' अर्थात् जिससे प्रमा ज्ञान होता है। वह प्रमाण कहलाता है अर्थात् प्रमा के साधन का नाम प्रमाण है। कहा गया है-

'प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि' यो.सू. 1/7

अर्थात् प्रथम प्रमाण वृत्ति तीन प्रकार की है प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम।

(क) प्रत्यक्ष प्रमाण- कहा गया है-

इन्द्रियप्रणालिकया चित्तस्य बाह्यवस्तूपरागात् तद्विषया सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य विशेषावधारणप्रधाना वृत्तिः प्रत्यक्षं प्रमाणम्। योसूत्र व्यासभाष्य- 1/7

अर्थात इन्द्रियों के द्वारा चित्त का बाह्य विषयों से सम्बन्ध होने से, उनको अपना विषय करने वाली सामान्यविशेषरूप पदार्थ के विशेष अंश को प्रधान रूप से निश्चय करने वाली वृत्ति प्रत्यक्ष प्रमाण कहलाती है अथवा यह भी कह सकते हैं कि इन्द्रिय और वस्तु के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान को प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं और उसका साधन हमारी इन्द्रियां होती हैं। अतः उस ज्ञान के उत्पन्न होने का करण हमारी इन्द्रियाँ होने के कारण इन्द्रियों को प्रत्यक्ष प्रमाण कहा जाएगा।

कुछ दार्शनिकों का मत है कि सामान्य ही पदार्थ हैं, कुछ कहते हैं कि विशेष ही पदार्थ और कुछ का मत है कि पदार्थ सामान्य और विशेष से युक्त है। किन्तु सांख्य और योग के अनुसार पदार्थ न तो सामान्य रूप है, न विशेष रूप है और न ही सामान्य विशेष से युक्त है अपितु पदार्थ सामान्यविशेष रूप है। निष्कर्ष यह हुआ कि इन्द्रिय द्वारा घटादि विशेष के आकार वाली जो चित्तवृत्ति है, वह प्रत्यक्ष प्रमाण है।

(ख) अनुमान प्रमाण- किसी अन्य वस्तु के अनुसार किसी वस्तु का ज्ञान करना अनुमान ज्ञान कहलाता है। कहा गया है-

'अनुमेयस्य तुल्यजातीयेष्वनुवृत्तो भिन्नजातीयेभ्यो व्यावृत्तः सम्बन्धो यस्तद्विषया सामान्यावधारणप्रधाना वृत्तिरनुमानम्।' योगसूत्र;व्यासभाष्यद्ध 1/7

अर्थात् अग्नि आदि अनुमेय साध्य का, पर्वतादि पक्ष सदृश महानसादि में रहने वाला तथा भिन्नजातीय तड़ागादि में नहीं रहने वाला जो व्याप्तिरूप सम्बन्ध है, तद्विषयक सामान्य अंश का प्रधानरूप से विषय करने वाली जो बुद्धिवृत्ति है, वह अनुमान प्रमाण कहलाती है। जैसे चन्द्र तारागण गति वाले हैं क्योंकि वे एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते हैं जैसे चैत्र। जो एक स्थान से दूसरे स्थान पर नहीं जाता, वह गतिमान् नहीं होता, जैसे- पर्वत।

सांख्य और योग दोनों ही शास्त्रों ने कारण-कार्य भाव संबन्ध को मान्यता प्रदान की है। अतः कहने का तात्पर्य है, कि कार्य के अनुसार कारण और कारण के अनुसार कार्य का ज्ञान करना अनुमान ज्ञान कहलाता है। यह तीन प्रकार का होता है-

पूर्ववत्- यह अनुमान प्रमाणवृत्ति का एक ऐसा सिद्धान्त है जिसमें कारण के अनुसार कार्य का अनुमान किया जाता है। जैसे यदि काले बादल और आकाश विद्युत की चमक तथा बादलों की गड़गडाहट सुनाई दे तो भविष्य में होने वाली वर्षा का अनुमान होता है जो कि वर्तमान में इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य नहीं है। इस प्रकार के अनुमान को पूर्ववत् (कारण के अनुसार) उत्पन्न होने वाला ज्ञान कहा जाएगा।

शेषवत् (कार्य के अनुसार) जब कार्य को देखकर कारण का अनुमान किया जाए तो उसे शेषवत् अनुमान कहा जाता है। शेष कहने का तात्पर्य कार्य से है। जैसे नदी के गन्दे एवं बढ़े हुए जल स्तर को देख कर, उसके कारणरूप पर्वतों पर हुई वर्षा का अनुमान किया जाता है। वर्षा एक या दो दिन पहले पर्वतों पर हो चुकी जो कि इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य नहीं है। परन्तु उसका ज्ञान परिणाम को देख कर आज किया जा रहा है। इसी को शेषवत् अनुमान कहते हैं।

सामान्यतः दृष्ट- एक बार से अधिक बार देखे गए की संज्ञा सामान्यतः दृष्ट होती है। कहने का तात्पर्य है कि जब किसी कार्य के कारण को अनेक बार देख कर उसका ज्ञान किया जाता है तो फिर वह सामान्य की अवस्था को प्राप्त हो जाता है फिर यदि उसी जाति का कार्य अन्य स्थान पर बिना उपादान कारण के होगा तो उसके उपादान कारण का ज्ञान अनुमान नामक प्रमाण वृत्ति से कर लिया जाएगा। जैसे शैशव अवस्था से ही देखा जाता है कि कुम्हार घट का निर्माण कर रहा है और लोहार लोहे से बने हथियारों का ऐसी अवस्था को अनेक बार देखना सामान्यतः दृष्ट कहा जाता है, अब इसके बाद यदि किसी अन्य घट को हम बाजार में देखते हैं तो अनुमान करेंगे कि इस घट का निर्माता भी कुम्हार ही है या लोहे से बने हथियारों का निर्माता लोहार है। इसी स्थिति को सामान्यतःदृष्ट अनुमान प्रमाण वृत्ति कहा जाता है।

(ग) आगम प्रमाण- जब किसी वस्तु अथवा तत्व के ज्ञान का कारण न तो इन्द्रियां होती है और न ही उनका अनुमान किया जाए तो उस ज्ञान को आगम प्रमाण से सिद्ध किया जाता है जैसे- स्वर्ग और नरक आदि। कहा गया है-

आप्तेन दृष्टोऽनुमितो वाऽर्थः परत्र स्वबोधसंक्रांतये शब्देनोपदिश्यते शब्दात् तदर्थविषयावृत्तिः श्रोतुरागमः। योगसूत्र (व्यासभाष्य 1/7)

अर्थात् आप्तपुरुष अथवा आप्तग्रन्थों द्वारा प्रत्यक्ष अथवा अनुमान से ज्ञात विषय को दूसरे में ज्ञान उत्पन्न करने के लिये शब्द के द्वारा उपदेश किया जाता है। वहाँ शब्द से उस अर्थ को विषय करने वाली जो श्रोता की वृत्ति है, वह आगम प्रमाण कहलाती है।

वास्तव में स्वर्ग को चक्षु आदि इन्द्रियों से ग्रहण नहीं किया जा सकता और न ही वह किसी के द्वारा अनुमानित है परन्तु स्वर्ग की मान्यता है। यहाँ पर आगम प्रमाण की मान्यता पुष्ट होती है। क्योंकि वेदादि ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर स्वर्ग और नरक की कल्पना की गई है। इस लिए उसकी सत्ता को मानना अनिवार्य हैं। इस आगम प्रमाण के अन्तर्गत आप्त पुरुष अथवा आप्त ग्रन्थों की भी गणना की जाती है।

7.5.2 विपर्यय- मिथ्या ज्ञान को विपर्यय कहते हैं। वह मिथ्या ज्ञान वस्तुतत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित नहीं होता योगदर्शन में कहा गया है-

‘विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्’ योगसूत्र 1/8

अन्धकार आदि दोषों के कारण पुरोवर्ती रस्सी को सांप समझना मिथ्याज्ञान है। सांपविषयक चित्तवृत्ति पुरोवर्ती वस्तुतत्त्व-रस्सी के रूप में प्रतिष्ठित नहीं है। अतः यह चित्तवृत्ति योगदर्शन में ‘विपर्यय’ नाम से जानी जाती है। इसी प्रकार सीप में चांदीविषयक वृत्ति, बालुकाओं में जलविषयक, देह तथा इन्द्रिय में आत्मविषयक चित्तवृत्ति का नाम विपर्यय है।

7.5.3 विकल्प- शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः योगसूत्र 1/9

वस्तुशून्य होने पर भी शब्दजन्य ज्ञान के प्रभाव से जो व्यवहार देखा जाता है, वह विकल्पवृत्ति है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि शब्द और शब्दज्ञान के अनुसार उभरने वाली चित्त की वृत्ति यदि विषयगत वस्तु से शून्य हो तो विकल्प कहलाती है। किसी शब्द के उच्चारण और उससे होने वाले शब्दज्ञान के अनुसार उसके प्रभाव से सुननेवाले व्यक्ति के चित्त में उभरने वाली वृत्ति को ‘विकल्प’ कहते हैं। परन्तु जिस आधार पर वह शब्द या शब्द समूह कहा गया है, उसका सदा ही वहाँ अभाव होना आवश्यक है। जैसे एक व्यक्ति ने कहा- ‘पानी से मेरा हाथ जल गया।’ वस्तुतः पानी से हाथ कभी नहीं जलता, प्रत्युत पानी के साथ संश्लिष्ट अग्नि से हाथ जलता है। पानी में जलाने के सामर्थ्य का सदा अभाव रहता है।

जलाने के सामर्थ्यरूप वस्तुसत्ता से पानी सर्वथा शून्य रहता है। फिर भी कहने-सुनने वाले दोनों उन्हीं शब्दों को बोलते और सुनते हुए उसका अर्थ समझ जाते हैं। चित्तवृत्ति के अनुसार पुरुष को उसी प्रकार का बोध होता है। ऐसी चित्तवृत्ति को शास्त्र में 'विकल्प' नाम दिया गया है।

7.5.4 निद्रा- प्रमाण, विपर्यय और विकल्प के समान निद्रा भी एक वृत्ति है, ऐसा सांख्ययोग का सिद्धान्त है। नैयायिक निद्रा को वृत्ति नहीं मानते हैं। उनके मतानुसार निद्रा ज्ञानाभावरूप है। निद्रा का स्वरूप पत´जलि ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है कि अभाव की प्रतीति को विषय करनेवाली चित्तवृत्ति का नाम निद्रा है-

'अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा' योगसूत्र 1/10

यहाँ पर ज्ञान के अभाव की प्रतीति समझनी चाहिए। इन्द्रियों से होने वाले ज्ञान का उस अवस्था में अभाव रहता है। यह विवरण सुषुप्ति अवस्था का है। जैसे जाग्रत और स्वप्न अवस्था में इन्द्रिक ज्ञान होते रहते हैं ऐसा ज्ञान सुषुप्ति अवस्था में नहीं होता। तात्पर्य यह है कि 'निद्रा' नामक वृत्ति सुषुप्ति अवस्था है। इसको लोक में गाढ़ निद्रा या गहरी नींद कहते हैं। जब व्यक्ति इस निद्रा से जाग उठता है तो कहता है 'मैं सुखपूर्वक सोया'। यह ज्ञान निद्रा की अवस्था में होता है। इसी का नाम निद्रा वृत्ति है। निद्रा होने के साथ-साथ सुख के अनुभव के कारण इस अवस्था को वृत्ति कहा गया है।

7.5.5 स्मृति- पहले अनुभव किये हुए विषय का फिर उभर आना स्मृति नामक चित्तवृत्ति है-

'अनुभूतविषयाऽसम्प्रमोषः स्मृति' 1/11

सूत्र के 'असम्प्रमोषः' पद में 'मुष्' धातु का प्रयोग है, जिसका अर्थ धातुपाठ में 'स्तेय' चोरी करना, निर्देश किया गया है। अपने अधिकार की किसी वस्तु का अवैधानिक रूप से उठा लिया जाना, अथवा दूर कर दिया जाना। इस पद में 'सम्' और 'प्र' दो उपसर्ग हैं, जो धात्वर्थ की उग्रता को अभिव्यक्त करते हैं। एक अधिकार से वस्तु का नितान्त अनधिकृत रूप में चले जाना। 'सम्प्रमोष' पद का नंच के साथ समास कर 'असम्प्रमोष' पद से पूर्वाक्त अर्थ के पूर्ण विपरीत अर्थ का अभिव्यंजन किया गया है। किसी व्यक्ति के द्वारा अनुभूत विषय का उसके ज्ञान के रूप में पूर्णतया उस व्यक्ति के अधिकार में रहना। विषय की अनुभूति के अनन्तर अनुभवजन्य संस्कार आत्मा में निहित रहते हैं। कालान्तर में अनुकूल निमित्त उपस्थित होने पर संस्कार उभर जाते हैं, जो उस विषय को याद करा देते हैं। इस प्रकार की चित्तवृत्ति का नाम 'स्मृति' है। अनुभूति के समान संस्कार होते हैं और संस्कारों के सदृश ही 'स्मृति' हुआ करती है। स्मृति का विषय सदा वही होता है जो अनुभव का विषय रहा है। बिना अनुभव किये हुए का स्मरण नहीं होता।

उक्त प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति ये पाँच प्रकार की वृत्तियाँ निरोध करने योग्य हैं क्योंकि ये सुख दुःख और मोहरूप हैं। सुख, दुःख और मोह तो क्लेशों के ही अन्दर आते हैं। क्लेशरूप होने से सभीका निरोध आवश्यक है। इन वृत्तियों का निरोध होने पर सम्प्रज्ञातसमाधि तथा सम्प्रज्ञात समाधि के द्वारा असम्प्रज्ञातसमाधि का लाभ योगियों को होता है।

7.6 अभ्यास और वैराग्य

महर्षि पतंजलि ने चित्त वृत्ति निरोध के लिए अभ्यास व वैराग्य नाम की दो साधनाये बताई है। महर्षि पतंजलि ने कहा है :-

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोध: 1/12 यो0सू0

अर्थात अभ्यास और वैराग्य के द्वारा उन चित्त वृत्तयों का निरोध होता है।

अब प्रश्न उठता है कि अभ्यास क्या है चिन्त की स्थिरता के लिए जो प्रयत्न किया जाता है वह अभ्यास कहा जाता है। वास्तव में आप विचार करे कि अभ्यास नाम की शक्ति दु:साध्य को भी सुसाध्य बना देती है। महर्षि पतंजलि कहते है –

तत्रस्थितौ यत्नोभ्यास: 1/13

चित्त की स्थिरता के लिए जो प्रयत्न किया जाता है वह अभ्यास है। ध्यान रहे यह अभ्यास कुछ दिनों या महीनों की बात नहीं है। इसके लिए लम्बे समय तक वाधारहित निरन्तरता के साथ एवं श्रद्धा और आदर के साथ प्रयत्न करना पड़ता है। तभी वह दृढ़ अभ्यास बनता है। पतंजलि ने कहा है –

सतु दीर्घकाजनैरन्तर्यसव्कारा सेवितो दृढ़भूमि: 1/14

अर्थात यह अभ्यास दीर्घकाल तक निरन्तर लगातार आदर पूर्वक सेवन अर्थात अभ्यास करते रहने पर ही दृढ़भूत होता है।

अभ्यास के फल की व्याख्या विशानानन्द सरस्वती जी ने करते हुए कहा है कि अभ्यास को दीर्घकाल पर्यत्न निरन्तर व्यवधान से रहित ठीक-ठीक अनुष्ठान किया हुआ दृढ अवस्था वाला बन जाता है। दीर्घकाल तक निरन्तर लगातार किया गया पर्यत्न तथा तपस्या, ब्रहमचर्य विद्या और श्रद्धा आदि से किया गया साधक का अभ्यास दृढभूत होता है। इससे योगी व्युत्थान के संस्कारों से अभिभूत नहीं होता है। जागतिक भोग वासना जन्य व्युथान के संस्कार मनुष्य के अन्दर चित्त में जन्म-जन्मान्तरों से चले आ रहे है। उनको थोड़े काल के अभ्यास नष्ट कर देना सम्भव नहीं है इसलिए इस अभ्यास को दृढ़भूत बनाने के लिए धैर्य के साथ दीर्घकाल पर्यन्त लगातार श्रद्धा, वीर्य और उत्साहपूर्वक प्रयत्न करते जाना चाहिए।

वैराग्य शब्द भारतीय आध्यात्मिक क्षेत्र में जाना-पहचाना शब्द है। वैराग्य का अर्थ हैं बिना राग के या यूँ कहे कि जिस व्यक्ति को कोई चाह नहीं, आसक्ति नहीं। चित्त की वृत्तियों को रोकने के लिए जहॉ एक ओर अभ्यास साधन है, वही दूसरी ओर वैराग्य प्रधान स्पधन है। महर्षि पतंजलि ने देखे गये और सुने गये विषय वस्तुओं में विवेक के द्वारा आसक्ति का न होना वैराग्य कहा है।

पतंजलि कहते है

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् यो0 सू0 1/15

अर्थात देखे गये और सुने हुए विषयों में सर्वथा तृष्णारहित चित्त की जो वशीकार नामक अवस्था है वह वैराग्य है।

प्रिय पाठको दो प्रश्न शायद आपके समक्ष आ रहे होंगे कि

देखे गये विषय कौन से है ?

सुने गये विषय कौन से है ?

देखे गये अर्थात जो आप अपने ऑंखों से इस संसार की भौतिक वस्तुओं को देखते हो जैसे – धन, वैभव, एश्वर्य, मोटकर-कार, मकान, जमीन राज, नौकरी इत्यादि।

सुने गये अर्थात जो आपने सुने, वेदों से, उपनिषदों से, पुराणों से, प्राचीन आर्ष ग्रन्थों से जैसे स्वर्ग प्राप्ति, मोक्ष प्राप्ति, दिव्य लोकों का सुख इत्यादि।

वैराग्य की अवस्था में उपरोक्त दोनों देखे गये और सुने हुए विषयों से कोई आसक्ति नहीं रहती है।

पाठको अगर संसार की तुलना जलाशय से करें तो मान लिजिए इस जलाशय के दो द्वार है एक द्वार संसार की ओर (भौतिक पदार्थो, धन, वैभव इत्यादि) जाता है तथा दूसरा मोक्ष की ओर। जो रास्ता संसार की ओर जाता है वहॉ वैराग्य का बांध लगाये और जो रास्ता मोक्ष की ओर जाता हो उसके लिए अभ्यास करे। अत: हम कह सकते है कि अभ्यास और वैराग्य से साधक कैवल्य की प्राप्ति कर सकता है।

अभ्यास हेतु प्रश्न

1. बहु विकल्पीय प्रश्न

क. चित्त की कितनी वृत्तियॉ है

अ. 4 ब. 5 स. 3 द. 8

ख. मन, बुद्धि व अंहकार का सम्मलित रूप है

अ. चित्त ब. अन्त:करण स. आत्मा द. इनमें से कोई नहीं

ग. चित्त की किस अवस्था में रजोगुण प्रधान रहता है।

अ. मूढ ब. क्षिप्त स. विक्षिप्त द. निरूद्ध

घ. चित्त की कौन सी अवस्था बिगुणातीत है।

अ. निरूद्ध ब. एकाग्र स. विक्षिप्त द. निद्रा

ड. कौन सी वृति के कारण झूठा ज्ञान होता है

अ. प्रमाण ब. विपर्यय स. विकल्प द. निद्रा

च. चित्त की वृतियों के निरोध के लिए निम्न में से कौन सी साधना उपयोगी है।

अ. अष्टांग योग ब. क्रियायोग स. ईश्वर द. अभ्यास और वैराग्य

7.7 सारांश

महर्षि पतंजलि ने योग की दार्शनिकता को बड़े सरलतम रूप से योग सूत्र नामक पुस्तक में प्रतिपादित किया है। शुरूआत में ही पतंजलि ने योग को चित्त वृत्तियों के निरोध के रूप में परिभाषित किया। मन, बुद्धि तथा अहंकार का सम्मलित रूप चित्त है। चित्त वस्तुत: चित्रगुप्त है जो जन्म-जन्मान्तरों तक ले जाता है। चित्त को वृत्तियॉ असन्तुलित करती है जो क्रमश: प्रमाण, विपर्य, विकल्प, निद्रा तथा स्मृति है। इन वृत्तियों का निरोध करने के लिए अभ्यास व वैराग्य नाम की दो साधनाये महर्षि पतंजलि ने प्रतिपादित की है। वास्तव में उत्तम कोटि के साधको के लिए यह साधना कैवल्य की प्राप्ति में अत्यधिक प्रभावशाली है।

7.8 शब्दावली

सम्यक – ठीक, सीधा, वास्तविक
निरोध – रोकना, नियन्त्रण करना
चित्त - मन + बुद्धि अंहकार
वृत्ति – गोल-गोल घुमना
अन्त:करण – मन + बुद्धि + अंहकार + चित्त
विलक्षण – अद्वितीय, तीव्र
स्मरण – याद करना
यथार्थ – सत्य
प्रत्यक्ष – इन्द्रिय जनित ज्ञान
विपर्यय – झूठा ज्ञान

7.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. क. ब.
ख. अ
ग. ब
घ. अ
ड. ब
च. द

7.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. महर्षि पतंजलि – योग दर्शन – गीताप्रेम गोरखपुर
2. पतंजलि योग प्रदीप – गीताप्रेस गोरखपुर
3. पातंजल योग दर्शन – स्वामी विज्ञानानन्द सरस्वती – योग निकेतन ट्रस्ट मुनि कीरेति ऋषिकेश

7.11 निबंधात्मक प्रश्न

1. चित्त की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए चित्त की विविध अवस्थाओं का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए।
2. चित्त वृत्तियों को विस्तार से समझाते हुए इनको रोकने के लिए योगसूत्र में क्या उपाय बताये है।

इकाई 8 :- चित्त विक्षेप, चित्त प्रसादन के उपाय

इकाई की संरचना

8.1 प्रस्तावना

8.2 उद्देश्य

8.3 चित्त विक्षेप

8.3.1 व्याधि

8.3.2 स्त्यान

8.3.3 संशय

8.3.4 प्रमाद

8.3.5 आलस्य

8.3.6 अविरति

8.3.7 भ्रान्ति दर्शन

8.3.8 अलब्धभूमकत्व

8.3.9 अनवस्थितत्व

8.3.10 दु:ख

8.3.11 दौर्मन्य

8.3.12 अंग मेजमत्व

8.3.13 श्वास

8.3.14 प्रश्वास

8.4 चित्त प्रसादन के उपाय

8.5 सारांश

8.6 शब्दावली

8.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

8.8 सन्दर्भ ग्रन्थ

8.9 निबंधात्मक प्रश्न

8.1 प्रस्तावना

पिछली इकाई में आपने पने चित्त की अवधारणा, चित्त की भूमियों, चित्त वृत्तियों के साथ-साथ चित्त वृत्ति निरोध के लिए उपयुक्त साधनाओं (अभ्यास व वैराग्य) का अध्ययन किया। प्रस्तुत इकाई में योग साधना में बाधक तत्वों (चित्त विक्षेपों) तथा साधक तत्वों (चित्त प्रसादन के उपायो) का अध्ययन करेंगे। महर्षि पंतजलि द्वारा प्रतिपादित योग सूत्र का अगर अवलोकन किया जाये तो प्रारम्भ में ही उन्होंने चित्त की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए चित्त वृत्ति निरोध के रूप में योग को प्रतिपादित किया। चित्त में अगर असंतुलन होगा या यूँ कहे कि विक्षेप होंगे तो कैवल्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसके विपरीत अगर साधक चित्त प्रसादन के उपायों को अपने जीवन में उतारे तो उसे वास्तविक आनन्द की प्राप्ति होगी तथा मानव उत्कर्ष की उच्च अवस्था कैवल्य की प्राप्ति होगी। प्रस्तुत इकाई में इन विक्षेपों तथा चित्त प्रसादन के उपायों की चर्चा की जा रही है।

8.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई में अध्ययन कर लेने के बाद

- चित्त विक्षेपों को जान सकेंगे।
- व्याधि व स्त्यान क्या है इनका अध्ययन करेंगे।
- संशय व प्रमाद आलस्य के विविध आयामों का विश्लेषण करेंगे।
- अविरति तथा भ्रान्तिदर्शन को समझ सकेंगे।
- अलब्ध भूमिकत्व व अनवस्थितत्व का तुलनात्मक अध्ययन करेंगे।
- तीनों प्रकार के दु:खों को समझ सकेंगे।
- दौर्मन्य व अंगमेजत्व के अर्थो का विश्लेषण कर सकेंगे।
- यह जान सकेंगे कि श्वास व प्रश्वास में भी चित्त को असन्तुलित करते है।
- चित्त प्रसादन के उपायों का अध्ययन करेंगे ।

8.3 चित्त विक्षेप

चित्त विक्षेपों को ही योगान्तराय कहते हैं जो चित्त को विक्षिप्त करके उसे एकाग्रता को नष्ट कर देते हैं उन्हें योगान्तराय अथवा योगविघ्न कहा है। 'योगस्य अन्तः मध्ये आयान्ति ते अन्तरायाः'। ये योग के मध्य में आते हैं] इसलिये इन्हें योगान्तराय कहा जाता है। विघ्नों से व्यथित होकर योगसाधक साधना को बीच में ही छोड़कर चल देते हैं। विघ्न आयें ही नहीं अथवा यदि आ जायें तो उनको सहने की शक्ति चित्त में आ जाये, ऐसी दया ईश्वर ही कर सकता है। यह तो सम्भव

नहीं कि विघ्न न आयें। 'श्रेयांसि बहुविघ्नानि' शुभकार्यों में विघ्न आया ही करते हैं। उनसे टकराने का साहस योगसाधक में होना चाहिए। ईश्वर की अनुकम्पा से यह सम्भव है।

चित्त के विक्षेपक नौ अन्तराय हैं- व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व और अनवस्थितत्व। उक्त नौ अन्तराय ही चित्त को विक्षिप्त करते हैं। अतः ये योगविरोधी हैं। चित्तवृत्तियों के साथ इनका अन्वयव्यतिरेक है। अर्थात् इन विक्षेपों के होने पर प्रमाणादि वृत्तियाँ होती हैं। जब ये नहीं होते तो वृत्तियाँ भी नहीं होती। वृत्तियों के अभाव में चित्त स्थिर हो जाता है। इस प्रकार चित्तविक्षेप के प्रति ये उक्त नौ अन्तराय ही कारण हैं।

8.3.1 व्याधि- 'धातुरसकरणवैषम्यं व्याधिः' धातुवैषम्य, रसवैषम्य तथा करणवैषम्य को व्याधि कहते हैं। वात, पित्त और कफ ये तीन धातुएँ हैं। इनमें से यदि एक भी कुपित होकर न्यून या अधिक हो जाये तो यह धातुवैषम्य कहलाता है। जब तक देह में वात, पित्त और कफ समान मात्रा में हैं तो तब इन्हें धातु कहा जाता हैं। जब इनमें विषमता आ जाती है तब इन्हें दोष कहा जाता है। धातुओं की समता में शरीर स्वस्थ रहता है। विषमता में रुग्ण हो जाता है। आहार का अच्छी तरह से परिपाक न होना रसवैषम्य कहलाता है। यही शरीर में व्याधि बनाता है। ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों की शक्ति का मन्द हो जाना करणवैषम्य है। योगसाधना के लिए सशक्त और दृढ़ इन्द्रियों की आवश्यकता होती है। धातु, रस तथा करण इन तीनों के वैषम्य को व्याधि कहते हैं। रोगी शरीर से समाधि का अभ्यास सम्भव नहीं। अतः व्याधि समाधि के लिए अन्तराय है। कफ, श्वास आदि दैहिक रोगों को व्याधि कहते हैं तथा मानसिक रोग को आधि जैसे- स्मरण शक्ति का अभाव, उन्माद, अरुचि, घृणा, काम, क्रोध आदि। आधि शब्द के 'वि' उपसर्ग के योग से व्याधि शब्द बनता है- 'विशेषेण आधीयते अनुभूयते मनसा इति व्याधिः'। चूँकि शारीरिक रोग मन को आधि की तुलना में अधिक कष्टकारक अनुभूत होता है, इसलिए शारीरिक रोग का व्याधि नाम सार्थक सिद्ध होता है।

8.3.2 स्त्यान- 'स्त्यानं अकर्मण्यता चित्तस्य' अर्थात् चित्त की अकर्मण्यता को स्त्यान कहते हैं। समाधि का अभ्यास करने की इच्छा तो चित्त में होती है किन्तु वैसा सामर्थ्य उसमें नहीं होता। केवल इच्छा से योग सिद्ध नहीं होता, अपितु उसमें योगाभ्यास की शक्ति होनी चाहिए। पुत्रों की आसक्ति, विषयभोग की लालसाएं तथा जीविकोपार्जन के व्यापार में चित्त को उलझाये रखते हैं जिससे कि चित्त अकर्मण्यता अनुभव करता है। अकर्मण्यता समाधि में अन्तराय है। जब तक सत्यान की अवस्था रहेगी तब तक साधक के समाधि का मार्ग अवरूद्ध रहेगा।

8.3.3 संशय- 'उभयकोटिस्पृग् विज्ञानं संशयः' अर्थात् यह भी हो सकता है और वह भी हो सकता है। इस प्रकार के ज्ञान को संशय कहते हैं। योग साधना के विषय में जब साधक को कभी-कभी संशय होता है कि मैं योग का अभ्यास कर सकूंगा या नहीं क्या मुझे सफलता मिलेगी क्या समाधि से कैवल्य प्राप्त हो सकेगा हो सकता है मेरा परिश्रम व्यर्थ चला जाये तब यह संशयात्मक ज्ञान योग का विघ्न बन जाता है। संशय की अवस्था में साधक का चित्त असंतुलित रहता है और वह साधना नहीं कर सकता है।

8.3.4 प्रमाद- 'समाधिसाधनानामभावनम्'- समाधि के साधनों में उत्साह पूर्वक प्रवृत्ति न होना प्रमाद कहलाता है। समाधि का अभ्यास प्रारम्भ कर देने पर उसमें वैसा ही उत्साह और दृढ़ता निरन्तर बनी रहनी चाहिए जैसा उत्साह प्रारम्भ में था। प्रायः युवावस्था का मद, धन और प्रभुत्व का दर्प तथा शारीरिक सामर्थ्य का मद साधक के उत्साह को शिथिल कर देता है। अतः प्रमाद समाधि में अन्तराय है।

8.3.5 आलस्य - 'आलस्यं कायस्य चित्तस्य च गुरुत्वादप्रवृत्तिः'- काम के आधिक्य से शरीर तथा तमोगुण के आधिक्य से चित्त भारीपन का अनुभव करता है। शरीर और चित्त के भारी होने से समाधि के साधनों में प्रवृत्ति नहीं होती, इसी का नाम आलस्य है। प्रमाद और आलस्य में बहुत अन्तर है। प्रमाद प्रायः अविवेक से उत्पन्न होता है। आलस्य में

अविवेक तो नहीं होता किन्तु गरिष्ठ भोजन के सेवन से शरीर और चित्त भारी हो जाता है। यह भी योग साधना मार्ग में अन्तराय कहलाता है।

8.3.6 अविरति - 'चित्तस्य विषयसम्प्रयोगात्मा गर्धः अविरतिः' शब्दादि विषयों के भोग से तृष्णा उत्पन्न होती है। तृष्णा वैराग्य का शत्रु है। समाधि के लिये वैराग्य प्रमुखतम साधन है। अतः वैराग्याभाव योग का अन्तराय है। कोमलकान्त वचन, उनके अंगों का मोहक स्पर्श, तथा स्वादिष्ट भोज्य, पेय आदि व्यंजनों का रस कभी-कभी तत्त्वज्ञान को भी आवृत्त करके साधक को संसार में आसक्त बना देता है। विषयों के प्रति यह आसक्ति ही अविरति है। यह अविरति योग का महान् विघ्न कहा गया है। जब तक अविरति रहेगी तब तक चित्त वृत्तियों का निरोध नहीं हो सकता है।

8.3.7 भ्रान्तिदर्शन - 'भ्रान्तिदर्शनं विपर्ययज्ञानम्'- अर्थात् मिथ्याज्ञान को भ्रान्तिदर्शन कहते हैं। अन्य वस्तु में अन्य वस्तु का ज्ञान ही मिथ्या ज्ञान है। जब साधक योग के साधनों को असाधन और असाधनों को साधन समझने लगता है तो यह भ्रान्तिदर्शन योग का विघ्न बन जाता है। भ्रान्तिदर्शन में व्यक्ति को साधन के फलों में झूठा ज्ञान हो जाता है।

8.3.8 अलब्धभूमिकत्व- 'अलब्धभूमिकत्व समाधिभूमेरलाभः'- अर्थात् समाधि की किसी भी भूमि की प्राप्ति न होना भी योग में विघ्न है। समाधि की चार भूमियाँ हैं- सवितर्क, निर्वितक, सविचार तथा निर्विचार। जब प्रथम भूमि की प्राप्ति हो जाती है तो योगी का उत्साह बढ़ जाता है। वह सोचता है कि जब प्रथम भूमि प्राप्त हो गयी है तो अन्य भूमियाँ भी अवश्य ही प्राप्त होंगी। परन्तु किसी कारण से उनकी प्राप्ति न होना अलब्धभूमिकत्व कहा गया है। यह भी योग में अन्तराय है।

8.3.9 अनवस्थितत्व - 'लब्धायां भूमौ चित्तस्याप्रतिष्ठा अनवस्थिततत्वम्' यदि किसी प्रकार मधुमती आदि भूमियों में से किसी एक की प्राप्ति हो जाये किन्तु उसमें निरन्तर चित्त की स्थिति न हो तो यह अनवस्थिततत्व कहलाता है।

इस प्रकार नौ चित्तविक्षेप योग के अन्तराय कहलाते हैं। इन्हीं को चित्तमल तथा योग प्रतिपक्ष भी कहा गया है। इन चित्तविक्षेपों के पाँच साथी भी हैं। जो इन अन्तरायों के होने पर स्वतः हो जाते हैं-

8.3.10 दुःख- दुख के बारे में व्यास जी कहते हैं -

'येनाभिहताः प्राणिनस्तदुपघाताय प्रयतन्ते तद्दुःखम्' योगसूत्र व्यासभाष्य 1/31

जिसके साथ सम्बन्ध होने से पीड़ित हुए प्राणी उस प्रतिकूल वेदनीय हेय दुःख की निवृत्ति के लिए प्रयत्न करते हैं, वह दुःख कहा जाता है। दुःख तीन प्रकार के हैं- आध्यात्मिक, आदिभौतिक तथा आधिदैविक। आध्यात्मिक दुख भी दो प्रकार के होते हैं शारीरिक और मानसिक। किसी भी प्रकार का शारीरिक रोग जैसे कब्ज, अपच, पीलिया, रक्तचाप, अस्थमा इत्यादि तथा मानसिक रोग चिन्ता, तनाच अवसाद ये आध्यात्मिक दुःख कहलाते है जिनके कारण भी योग साधना में बाधा उत्पन्न करते है। आदिभौतिक शब्द की रचना का विचार किया जाए तो ज्ञात होता है कि यह शब्द भूत शब्द से बना है। भूत शब्द का अर्थ है प्राणी अर्थात् प्राणियों के द्वारा दिये गए दुःखों को आदिभौतिक कहा जाता है। प्राणी, योनिज, स्वेदज, अण्डज तथा उद्भिज भेद से चार प्रकार के होते हैं। दुःखों के तृतीय प्रकार का नाम आदिदैविक है जिसका अर्थ है दैविक शक्तियों के द्वारा दिये गए दुःख। दैविक शक्तियों के रूप में अग्नि, जल और वायु की गणना की जाती है। ये तीनों प्रत्येक के लिए अति आवश्यक हैं परन्तु आवश्यकता से अधिक या कम होने पर ये दुःखों के उत्पादक होते हैं। जैसे- अग्नि यदि हमारे उदर अथवा रसोई घर में पर्याप्त मात्रा में रहे तो सुखद परन्तु यदि कम या अधिक हो तो असहनीय होकर दुःखों का कारण बन कर नाशवान् हो जाती है। इसी प्रकार से वायु और जल को समझना चाहिए।

8.3.11 दौर्मनस्य – अभिलक्षित पदार्थविषयक इच्छा की पूर्ति न होने से चित्त में जो क्षोभ होता है। उसे दौर्मनस्य कहा जाता है जब प्रयास करने पर भी इच्छा की पूर्ति नहीं होती तो चित्त व्याकुल होता है। यह दौर्मनस्य भी दुःख का साथी है। कहा गया है-

इच्छाव्याघातात् चेतसः क्षोभः दौर्मनस्यम्। योगसूत्र व्यासभाष्य 1/31

वास्तव में इच्छापूर्ति न होने पर व्यक्ति की स्थिति अति भयंकर हो जाती है। वर्तमान प्रतिस्पर्धा के युग में व्यक्ति ने उच्चतम महत्वाकाक्षायें रखी है तथा कर्म का अभाव है ऐसी विषम परिस्थिति में दौर्मन्य का होना स्वाभाविक है ऐसी स्थिति में साधक पहले तो साधना करता नहीं है अगर करता भी है तो दौर्मन्य होने पर उसे छोड़ देता है यह दौर्मन्य योग में सबसे बड़ा विघ्न है।

8.3.12 अंगमेजयत्व - जो शरीर के हाथ, पैर शिर आदि अंगों की कम्पित अवस्था है, वह अंगमेजयत्व कहलाती है-

यत् अंगानि एजयति कम्पयति तद् अंगमेजयत्वम्'

व्याधि आदि अन्तराय शरीर को दुर्बल बना देती हैं जिससे अंगों में कम्पन होने लगता है। यह अंगमेजयत्व आसन, प्राणायाम आदि में व्यवधान उपस्थित करता है। अतः विक्षेप का साथी होने से समाधि का प्रतिपक्षी है। वात होने के कारण देखा गया है कि शरीर के अंगों में कम्प न हो जाता है व्याक्ति को लकवा हो जाता है यह भी योग में विघ्नक है।

8.3.13 श्वास- जो बाह्य वायु का नासिकाग्र के द्वारा आचमन करता है, वह श्वास कहलाता है अर्थात् भीतर की ओर जाने वाला प्राणवायु श्वास है। यह प्राणक्रिया यदि निरन्तर चलती रहे, कुछ समय के लिए भी न रुके तो चित्त समाहित नहीं रह सकता। अतः यह श्वास रेचक प्राणायाम का विरोधी है। अतः यह समाधि का अन्तराय है-

8.3.14 प्रश्वास- जो प्राण भीतर की वायु को बाहर निकालता है, वह प्रश्वास कहलाता है। यह श्वास क्रिया भी निरन्तर चलती रहती है। यह भी समाधि के अंगभूत पूरक प्राणायाम का विरोधी होने से समाधि का विरोधी है। अतः विक्षेप का साथी होने से योगान्तराय कहा जाता है।

चित्तविक्षेप विषय को अधिकार करके स्वामी स्वात्माराम जी ने अपनी पुस्तक हठप्रदीपिका में कहा है-

अत्याहारः प्रयासश्च प्रजल्पो नियमाग्रहः।

जनसंघ्गश्च लौल्यं च षड्भिर्योगो विनश्यति।। ह.प्र. 1/15

अर्थात् अधिक भोजन, अधिक श्रम, अधिक बोलना, नियम पालने में आग्रह, अधिक लोकसम्पर्क तथा मन की चंचलता- ये छः योग को नष्ट करने वाले तत्व हैं अर्थात् योगमार्ग में प्रगति के लिए बाधक हैं।

महर्षि पतंजलि ने पूर्वोक्त नौ चित्तविक्षेपरूप योगान्तराय तथा उक्त पाँच विक्षेप के साथियों का निवारण करने के लिए एकतत्व के अभ्यास का उपदेश देते हुए कहा है-

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः। योगसूत्र- 1@32

अर्थात् उक्त योगान्तरायों के निराकरण के लिये साधक को ईश्वररूप एक तत्त्व के चिन्तन में पुनः पुनः चित्त को प्रविष्ट करने का अभ्यास करना चाहिए। एकतत्त्वाभ्यास का अर्थ है- 'ईश्वरप्रणिधान'। ईश्वरप्रणिधान का अभ्यास करने से कोई भी विघ्न योगमार्ग में उपस्थित नहीं होता।

एकतत्त्व शब्द के आठ अर्थ अमरकोष में बताये गये हैं-

एकोऽन्यार्थे प्रधाने च प्रथमे केवले तथा।

साधारणे समानेऽल्पे संख्यायां च प्रयुज्यते।।

अर्थात् अन्य, प्रधान, प्रथम, केवल, साधारण, समान, अल्प तथा संख्या ये अर्थ एक शब्द के हैं परन्तु यहाँ ईश्वरप्रणिधानरूप प्रकरण के बल से एकतत्त्व का अर्थ ही ग्रहण करना उचित है।

8.4 चित्त प्रसादन के उपाय -

जिज्ञासु पाठको अभी तक आपने योग मार्ग में उत्पन्न विविध बाधाओं का अध्ययन किया जिनके कारण चित्त विक्षेप होते है। अक्सर आम नागरिको के मन में यह जानने की इच्छा होती है कि

- ऐसे कौन से उपाय है जो चित्त को स्वच्छ करें।
- क्या स्वच्छ चित्त में समाधि की प्राप्ति हो सकती है।

आगामी पृष्टों का अध्ययन कर लेने के बाद आप निश्चित रूप से उपरोक्त प्रश्नो के उत्तर जान सकेंगे।

मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा- इन चार प्रकार की भावनाओं से भी चित्त शुद्ध होता है। और वृत्तिनिरोध मे समर्थ होता है-

'मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्' यो.सू. 1/33

सुसम्पन्न पुरुषों में मित्रता की भावना करनी चाहिए, दुखी जनों पर दया की भावना करे। पुण्यात्मा पुरुषों में प्रसन्नता की भावना करे तथा पाप कर्म करने के स्वभाव वाले पुरुषों में उदासीनता का भाव रखे। इन भावनाओं से चित्त शुद्ध होता है। शुद्ध चित्त शीघ्र ही एकाग्रता को प्राप्त होता है।

संसार में सुखी, दुःखी, पुण्यात्मा और पापी आदि सभी प्रकार के व्यक्ति होते हैं। ऐसे व्यक्तियों के प्रति साधारणजन का अपने विचारों के अनुसार राग, द्वेष आदि उत्पन्न होना स्वाभाविक है। किसी व्यक्ति को सुखी देखकर दूसरे अनुकूल व्यक्ति का उसमें राग उत्पन्न हो जाता है, प्रतिकूल व्यक्ति को द्वेष व ईर्ष्या आदि। किसी पुण्यात्मा के प्रतिष्ठित जीवन को देखकर अन्य जन के चित्त में ईर्ष्या आदि का भाव उत्पन्न हो जाता है। उसकी प्रतिष्ठा व आदर को देखकर दूसरे अनेक जन मन में जलते हैं, हमारा इतना आदर क्यों नहीं होता यह ईर्ष्या का भाव है। इसमें प्रेरित होकर ऐसे व्यक्ति पुण्यात्मा में अनेक मिथ्यादोषों का उद्धावन कर उसे कलंकित करने का प्रयास करते देखे जाते हैं। इस प्रकार परनिन्दा की भावना असूया है। दुःखी को देखकर प्रायः साधारण जन उससे घृणा करते हैं, ऐसी भावना व्यक्ति के चित्त को व्यथित एवं मलिन बनाये रखती है। यह समाज की साधारण व्यावहारिक स्थिति है।

योगमार्ग पर चलने वाले साधक ऐसी परिस्थिति से अपने आपको सदा बचाये रखने का प्रयास करें। साधक के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि उसका चित्त ईर्ष्या तथा असूया आदि मलों से सर्वथा रहित हो, यह स्थिति योग में प्रवृत्ति के लिये अनुकूल होती है। निर्मल-चित्त साधक योग में सफलता प्राप्त करने का अधिकारी होता है। सुखी जनों को देखकर

साधक उनके प्रति मित्रता की भावना बनाये। मित्र के प्रति कभी ईर्ष्या का भाव उत्पन्न नहीं होता। दुःखी जनों के प्रति सदा करुणा-दया का भाव, उनका दुःख किस प्रकार दूर किया जा सकता है इसके लिए उन्हें सन्मार्ग दिखाने का प्रयास करे। इससे साधक के चित्त में उनके प्रति कभी घृणा का भाव उत्पन्न नहीं होने पायेगा। इससे दोनों के चित्त में शान्ति और सान्तवना बनी रहेगी। इसी प्रकार पुण्यात्मा के प्रति साधक हर्ष का अनुभव करे। योग स्वयं ऊँचे पुण्य का मार्ग है। जब दोनों एक ही पथ के पथिक हैं तो हर्ष का होना स्वाभाविक है। संसार में सन्मार्ग और सद्विचार के साथी सदा मिलते रहें, तो इससे अधिक हर्ष का और क्या विषय होगा। पापात्मा के प्रति साधक का उपेक्षाभाव सर्वथा उपयुक्त है। ऐसे व्यक्तियों को सन्मार्ग पर लाने के प्रयास प्रायः विपरीत फल ला देते हैं। पापी पुरुष अपने हितैषियों को भी उनकी वास्तविकता को न समझते हुए हानि पहुँचाने और उनके कार्यों में बाधा डालने के लिये प्रयत्नशील बने रहते हैं। इसलिए ऐसे व्यक्तियों के प्रति उपेक्षा अर्थात् उदासीनता का भाव श्रेयस्कर होता है। साधक इस प्रकार विभिन्न व्यक्तियों के प्रति अपनी उक्त भावना को जागृत रखकर चित्त को निर्मल स्वच्छ और प्रसन्न बनाये रखने में सफल रहता है, जो सम्प्रज्ञात योग की स्थिति को प्राप्त करने के लिये अत्यन्त उपयोगी है।

वस्तुयत: उपरोक्त चार साधनों से चित्त निर्मल होता है पर चित्त को एकाग्र करना भी आवश्ययक है अतरू महर्षि पतंजलि में निम्नं उपाय चित्त को एकाग्र तथा शुद्ध करने के लिये बताये है।

1. महर्षि पतंजलि ने समाधि पाद में कहा है।

प्रच्छर्दन नविधारणाभ्यां वा प्राणस्य योग सूत्र 1/34

अर्थात उदस्थ वायु को नासिकापुट से बाहर निकालना प्रच्छर्दन और भीतर ही रोके रहने को विधारण कहा है। साधक को चाहिए कि उदर में स्थित प्राणवायु को बलपूर्वक बाहर निकालने से चित्त एकाग्र होकर स्थिरता को प्राप्तव होता है जिससे चित्तक निर्मल होता है।

2. पतंजलि कहते है

विषयवती वा प्रवृत्तिरूत्पवन्ना मनस:

स्थिति निबन्धनी: यो0सू0 1/35

अर्थात् पृथ्वी जल, तेज वायु, आकाश ये पंच महाभूत है। गन्ध, रस, रूप, स्पर्श तथा शब्द इसके विषय है। दिव्य और आदिव्य भेद से ये विषय दस प्रकार के हो जाते है। उक्त पॉचों गन्धादि विषयों का ध्यान करने से भी चित्त निर्मल होता है।

3. महर्षि पतंजलि कहते है -

विशोका वा ज्योतिष्मती यो0सू0 1/36

चित्त विषयक साक्षात्कार तथा अहंकार विषयक साक्षात्कार विशोका ज्योतिष्मती कहे जाते है। ह्रदय कमल में अनाहत चक्र पर संयम करने पर जो चित्त का साक्षात्कार होता है यह चित्त विषयक ज्योतिष्मती प्रवृत्ति कहलाती है इस प्रवृत्ति द्वारा भी चित्त प्रसन्न होता है।

4. महर्षि पतंजलि कहते है

वीतरागविषयं वा चित्तम् योग0सू0 1/37

अर्थात् रागादि दोषों से रहित ज्ञानवान वैराग्यवान पुरूष को विषय करने वाला चित्त भी स्थिरता को प्राप्त हो जाता है। राग द्वेष से परे हमारे योगी, महापुरूषों के जीवन दर्शन का अध्ययन करना, उनके चरित्र के बारे में श्रवण इत्यादि करने से भी चित्त निर्मल होता है।

5. महर्षि पतंजलि कहते है-
स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा यो0सू0 1/38

अर्थात स्वप्न काल के समान या निद्राकाल के समान ज्ञान का आलम्बन करने वाला चित्त भी स्थिरता को प्राप्त करता है।

6. महर्षि पतंजलि कहते है –

यथाभिमतध्यानाद्वा यो0सू0 1/39

अर्थात् जिसको जैसा अभिमत हो उसको वैसा ध्यान करने से चित्त निर्मल होता है। जिस साधक को जो स्वरूप अभीष्ट हो उसमें ध्यान करने से चित्त शीघ्र स्थिरता को प्राप्त करता है। अनभिगत विषय में चित्त कठिनता से स्थिर होता है। इसलिए शिव, शक्ति, गणपति, विष्णु पूर्ण इत्यादि देवताओं जैसे जिस एक में विशेष रूचि उसका ध्यान करने से चित्त स्थिरता को प्राप्त कर लेता है।

अभ्यासार्थ प्रश्न :-

1. बहुकल्पीय प्रश्न

क. चित्त विक्षेपों की संख्या है -

अ. 5 ब. 8 स. 9 द. 12

ख. सुखी व्यक्ति से किस प्रकार की भावना करने से चित्त निर्मल होता है।

अ. मैत्री ब. करूणा स. मुदिता द. उपेक्षा

ग. दु:खो की संख्या कितनी है।

अ. दो ब. चार स. पॉच द. तीन

2. सत्य/असत्य बताये।

क. दु:खी व्यक्ति से करूणा की भावना से चित्त निर्मल होता है।

ख. पापी व्यक्ति की उपेक्षा करने से चित्त निर्मल होता है।

ग. चित्त प्रसादन के तीन उपाय महर्षि पतंजलि ने बातये है।

घ. ईश्वर की अनुकम्पा से विक्षेप दूर होते है।

ड. अष्टांग योग चित्त प्रसादन का उपाय है।

च. चित्त की अकर्मण्यता को संशय कहते है।

छ. तमोगुण की अधिकता के कारण आलस्य उत्पन्न होता है।

ज. तृष्णा वैराग्य का शत्रु है।

8.5 सारांश

महर्षि पतंजलि ने जहॉं एक ओर नौ चित्त विक्षेप (व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्ध भूमिकत्व, अनवस्थित्व) तथा 5 विक्षेप सहभूव (दु:ख, दौर्मन्य, अंग मेजयत्व, श्वास तथा प्रश्वास) बताये है वही दूसरी ओर चित्त प्रसादन के उपायो की चर्चा योग सूत्र में की है। यह तो सत्य है कि जब तक चित्त विक्षेप रहेंगे तब तक साधना की उच्च अवस्था कैवल्य की प्राप्ति का मार्ग अवरूद्ध रहेगा अत: साधक को चाहिए कि विक्षेपो को दूर करने के लिए वह एकतत्व (ईश्वर) का अभ्यास करें तथा साथ ही साथ चित्त प्रसादन के उपायों को आत्मसात करें।

8.6 शब्दावली

व्यथित – परेशान, दु:खी

एक तत्व – ईश्वर, आत्मा

अविरति – वैराग्य का अभाव

धातु – धारण करना, पोषण करना

रसवैषम्य - आहार का न पचना

व्याधि – रोग

स्त्यान – काम न करने की इच्छा, अकर्मण्यता

तृष्णा – आत्मा का ज्ञान

मिथ्या – झूठा

दौर्मन्य – इच्छा पूर्ति न होने वाली एक स्थिति दौर्मन्य है।

अंगमेजयत्व – अंगों का हिलना, कंपायमान होना

पूरक – श्वास लेना

रेचक – श्वास छोड़ना

8.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1.

क. स ख. अ ग. द

2.

क. सत्य ख. सत्य ग. असत्य घ. सत्य

ड. असत्य च. असत्य छ. सत्य ज. सत्य

8.8 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. महर्षि पतंजलि – योग दर्शन (2007) गीताप्रेस गोरखपुर

2. महर्षि पतंजलि – पातंजल योग प्रदीप (2008) गीतप्रेस गोरखपुर

3. स्वामी विज्ञानानन्द सरस्वती – पातंजल योग दर्शन (1999) योग निकेतन ट्रस्ट, मुनि की रेति ऋषिकेश

8.9 निबंधात्मक प्रश्न

1. चित्त विक्षेपों की विस्तार से चर्चा कीजिए।

2. चित्त प्रसादन क्या है ? योग दर्शन में वर्णित चित्त प्रसादन के उपायों की विवेचना कीजिए।

3. योग साधना में कौन-कौन से विघ्न हो सकते है योग सूत्र के अनुसार किन्ही दो विघ्नों की विस्तारपूर्वक व्याख्या करें।

इकाई 9 :- ईश्वर, पुरूष, प्रकृति, कैवल्य तथा कैवल्य प्राप्ति के उपाय

9.1 प्रस्तावना

9.2 उद्देश्य

9.3 ईश्वर

9.3.1 विविध विद्वानों के अनुसार ईश्वर

9.3.2 योगदर्शन के अनुसार ईश्वर

9.3.3 ईश्वर के नाम; अंग तथा अव्यय

9.4 पुरूष (आत्मा)

9.5 प्रकृति

9.6 कैवल्य

9.7 कैवल्य प्राप्ति के उपाय

9.8 सारांश

9.9 शब्दावली

9.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर – त्रिगुण – सत् , रज, तम

9.11 सन्दर्भ ग्रन्थ

9.12 निबंधात्मक प्रश्न

9.1 प्रस्तावना

अभी तक आपने चित्त, चित्त वृत्तियों, चित्त प्रसादन के उपाय व चित्त विक्षेपों का अध्ययन किया। वास्तव में योग-सूत्र का मुख्य ध्येय कैवल्य की प्राप्ति करना है। महर्षि पतंजलि ने आरम्भ में ही यह स्पष्ट कर दिया हैं कि चित्त की वृतियों का निरोध हो जाए तो साधक को कैवल्य की प्राप्ति हो जाती है। वास्तव में कैवल्य की प्राप्ति में ईश्वर ही मदद करता है। प्रस्तुत इकाई में ईश्वर की अवधारणा के साथ-साथ पुरूष, प्रकृति, कैवल्य का स्वरूप तथा कैवल्य प्राप्ति के साधनों को स्पष्ट किया है।

9.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई का उद्देश्य आपको ईश्वर के स्वरूप, पुरूष, प्रकृति तथा कैवल्य के बारे में जानकारी प्रदान कराना है। प्रस्तुत इकाई में आप

- विविध विद्वानों के अनुसार ईश्वर के स्वरूप को समझ सकेंगे।
- योग दर्शन के अनुसार ईश्वर के बारे में अध्ययन करेंगे।
- ईश्वर के नाम, अंग तथा अव्यय को जान सकेंगे।
- पुरूष (आत्मा) के सम्बन्ध में विविध शास्त्रों तथा विद्वानों के मतों का अध्ययन करेंगे।
- प्रकृति के स्वरूप को जान सकेंगे।
- कैवल्य के विविध अर्थो का विश्लेषण कर सकेंगे।
- कैवल्य प्राप्ति के उपायों को समझ सकेंगे।

9.3 ईश्वर

ईश्वर के बारे में कहा है -

'ईश्वरः ईशनशील इच्छामात्रेण सकलजगदुद्धरणक्षमः।'

अर्थात् जो सब कुछ अर्थात् समस्त जगत को केवल इच्छा मात्र से ही उत्पन्न और विनष्ट करने में सक्षम है, वह ईश्वर है।

ईश्वर के सम्बन्ध में अनेक विद्वानों के अनेक मत हैं परन्तु आधार सभी का लगभग एक ही है। इसी श्रृखला में यदि अध्ययन किया जाए तो आचार्य शंकर, आचार्य रामानुज, आचार्य मध्व, आचार्य निम्बार्क, आचार्य वल्लभ तथा महर्षि दयानन्द के विचार विशिष्ट प्रतीत होते हैं।

9.3.1 विविध विद्वानों के अनुसार ईश्वर

क. आचार्य शंकर- इनके मतानुसार ब्रह्म अंतिम सत्य है। परमार्थ और व्यवहार रूप में भेद है। परमार्थ रूप से ब्रह्म निर्गुण, निर्विशेष, निश्चल, नित्य, निर्विकार, असंग, अखण्ड, सजातीय-विजातीय-स्वगत भेद से रहित, कूटस्थ, एक, शुद्ध, चेतन, नित्यमुक्त, स्वयम्भू है। उपनिषद् में भी ऐसा ही कहा गया है-

श्रुतियों से ब्रह्म के निर्गुणत्व, निर्विशेषत्व तथा चैतन्य स्वरूप का प्रमाण मिलता है। माया के कारण भी ब्रह्म में द्वैत नहीं आता क्योंकि यह माया सत् और असत् से विलक्षण वस्तु है। ब्रह्म ही जगत् का उपादान व निमित्त कारण है। यद्यपि वह न तो किसी का कारण है, न उसका कोई कारण है। यह कारणभाव मिथ्या है। तथापि अनादि काल से जब जगत् का कारण खोजने की वासना में जाकर देखा जाता है तो ब्रह्म ही सबका कारण प्रतीत होता है।

ख. आचार्य रामानुज- इनके अनुसार ब्रह्म के दो रूप हैं- 'स्थूल चिदचिद्विशिष्ट तथा सूक्ष्म चिदचिद् विशिष्ट। यह विशेषता उसमें विकार या परिवर्तन उत्पन्न नहीं करती। ब्रह्म निर्गुण नहीं हो सकता क्योंकि इस अवस्था में व्यावहारिक जगत् की उत्पत्ति सम्भव नहीं है।

उपनिषदों में कहा है -

'एकमेवाद्वितीयम्'

उक्त वाक्य ब्रह्म की एकता व अद्वितीयता का प्रतिपादन करता है, सगुणत्व का प्रत्याख्यान नहीं करता। निर्गुण का अर्थ हेय तथा निकृष्ट गुणों से रहित होना है। श्रेष्ठ गुणों से तो ब्रह्म को मण्डित किया गया है, जैसे सत्यसंकल्प, सत्यधाम, सर्वशक्तिमान्, दयालु आदि। उसका पारमार्थिक रूप भी यही है। वह गुणों से रहित कभी नहीं होता। वे ब्रह्म में स्वगत भेद मानते हैं। जीव व जगत् ब्रह्म के शरीर हैं किन्तु दोनों पृथक् हैं फिर भी वे अभिन्न है। सत्य, ज्ञान और आनन्द ब्रह्म के विशेषण है। इसी कारण वह सविशेष है। उसमें सत्यसंकल्पत्व, सर्वशक्तित्व, सर्वकर्तृत्व, भक्तवत्सलता आदि गुण हैं, अतः वह सगुण है।

ग. आचार्य मध्व- इनके अनुसार ब्रह्म सगुण व विशेष है। वह सदा जीव व जगत् से भिन्न रहता है। ये उसके शरीर नहीं, स्वतन्त्र तत्व हैं। ब्रह्म भी अनन्त गुणों का समुदाय स्वतन्त्र तत्व है। ये गुण ही परमेश्वर के स्वरूप हैं। ब्रह्म को 'हरि' कहते हैं। वही देवाधिदेव है, मुक्तिदाता है, रचयिता, पालक व संहारक हैं। देशकाल, गुणों की उसमें कोई सीमा नहीं है।

घ. आचार्य निम्बार्क- इनके मतानुसार ब्रह्म का नाम 'कृष्ण' है। यह समस्त गुणों का आलय, दोषों से सर्वथा, सर्वदा पृथक् है, सर्वजनवरेण्य व भक्तवत्सल है।

'स्वभावतोऽपास्त समस्त दोषमशेष कल्याण गुणैकराशिम्।

व्यूहाग्निं ब्रह्म परं वरेण्यं ध्यायेम कृष्णं कमलेक्षणं हरिम्।। (दशश्लोकी-4)

वे वसुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध इन चार व्यूहों से सम्पन्न होकर जगत् की व्यवस्था करते हैं। भक्तों की रक्षा और रंजन हेतु अवतार धारण करते हैं।

ड. आचार्य वल्लभ- इनके अनुसार ब्रह्म सगुण, सर्वज्ञ, साकार, सर्वशक्तिमान्, सर्वकर्ता, सच्चिदानन्दस्वरूप, चैतन्य और नित्य है। आचार्य वल्लभ का मत अन्य आचार्यो से विलक्षण है। ये कहते हैं कि ब्रह्म कभी भी अशुद्ध नहीं होता। माया के दोष से सर्वथा अलग रहता है-

माया सम्बन्धरहितं शुद्धमित्युच्यते बुधैः। (शुद्धाद्वैत मार्तण्ड)

वह सविशेष होकर भी निर्विशेष है। वह लीला के लिए जड़ और जीव के रूप में आविर्भूत होता है किन्तु इस आविर्भाव में वह अविकृत, अपरिवर्तित और शुद्ध रहता है।

च. महर्षि दयानन्द- महर्षि का मत है कि ईश्वर सगुण व निर्गुण दोनों हैं। निर्गुण इसलिए है क्योंकि उसमें रूप, रस, आकार, आदि गुणों का सर्वथा अभाव है। मनुष्य, पशु आदि के रूप में वह अवतार नहीं लेता। जो जड़-चेतन सब तत्वों में सर्वव्यापक है, उसे किसी विशेष रूप में अवतरित होने की क्या आवश्यकता है उसमें दया, दाक्षिण्य, उदारता, न्याय, सर्वज्ञता आदि अनेक गुण हैं। अतः वह सगुण भी है। वह निराकार है। बिना हाथ पाँव या इन्द्रियों के वह समस्त कार्य करने में सक्षम है-

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।

स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्रयं पुरुषं महान्तम्।। (श्वेता. 3/19)

वह निष्क्रिय नहीं है। यदि ऐसा होता तो सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय कैसे होता? अतः वह चेतन और क्रियाशील मानना होगा। श्वेताश्वतरोपनिषद् में भी कहा गया है-

परास्य शक्तिर्विविधैश्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबल क्रिया च। (श्वे.6/8)

जगत की व्यवस्था तथा मोक्ष सुख प्रदान करना भी उसी का कार्य है। ईश्वर का स्वरूप स्वामी जी के मतानुसार है-

'ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्ता है, उसी की उपासना करनी योग्य है।

जिज्ञासु पाठको अगर आपने भारतीय दर्शनों का सम्यक अध्ययन किया होगा तो -

भारतीय दर्शनों में न्याय वैशेषिक योग और वेदान्त ये चार सम्प्रदाय स्पष्ट रूप से ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करते हैं तथा उसकी सिद्धि में उन्होंने प्रबल तर्क दिये हैं। मुख्य रूप से तीन कारणों से ईश्वर की सत्ता को आवश्यक माना गया है। प्रथम कारण यह है कि जगत् की रचना ईश्वर के अतिरिक्त कोई अन्य मनुष्य, देव, सिद्धादि नहीं कर सकते। सृष्टिकर्ता ईश्वर ही हो सकता है। दूसरा कारण यह है- कर्मफल प्रदातृत्व। असंख्य जीवों के कर्मों का फल देना ईश्वर के अतिरिक्त किसी अन्य के वश की बात नहीं है। तीसरा कारण यह है कि ईश्वर ने वेदों की रचना की है। सर्वज्ञकल्प वेदों की रचना सर्वज्ञ ईश्वर के अतिरिक्त कोई नहीं कर सकता। इस प्रकार जगत्कर्ता, कर्मफलप्रदाता तथा वेदों के रचयिता के रूप में ईश्वर को स्वीकार करना पड़ता है।

9.3.2 योग दर्शन के अनुसार ईश्वर - यहाँ पर ईश्वर का स्वरूप न्याय वैशेषिक और वेदान्त के अनुसार ही स्वीकार किया गया है किन्तु उसकी मान्यता का आधार न्याय-वैशेषिक से कुछ भिन्न है। योगदर्शन के अनुसार ईश्वर महर्षि पतंजलि द्वारा प्रतिपादित योग सूत्र का अगर आप अवलोकन करे तो ईश्वर के जगत्कर्तृत्व तथा कर्मफलप्रदातृत्व पर विशेष बल दिया है। योग सूत्र के समाधिपाद के तेईसवे सूत्र में महर्षि पतंजलि ने कहा है कि ईश्वर की विशेष भक्ति से समाधि की सिद्धि शीघ्र होती है। भक्ति से प्रसन्न होकर परम पिता परमेश्वर योगसाधना में आने वाली समस्त बाधाओं (चित्त विक्षेपो) का निवारण कर देते है जिससे समाधि का मार्ग सहज ही प्राप्त हो जाता है। योगदर्शन में ईश्वर का स्वरूप को इस प्रकार परिभाषित किया है -

'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।' योगदर्शन 1/24

अर्थात् पंचक्लेश, कर्म, विपाक तथा कर्माशय इन चारों से जो सर्वथा असम्बद्ध है, ऐसा पुरुषविशेष ईश्वर कहलाता है। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश नामक पाँचों क्लेश जिसको छू नहीं सकते, पुण्य-पाप और मिश्रित तीनों प्रकार के कर्मो से सर्वथा अलग रहने वाला, कर्मफल जिसको सुख या दुःखरूप भोग प्रदान नहीं करते तथा कर्मों के संस्कार जाति, आयु व भोगरूप फल के रूप में आगामी जन्मों का हेतु नहीं बनते, वह ईश्वर कहलाता है। इस प्रकार अन्य पुरुषों से वह सर्वथा पृथक् है क्योंकि अन्य पुरुष क्लेश के सम्पर्क से कर्म-बंधन में बंधे हैं और शुक्ल, कृष्ण तथा शुक्लकृष्ण कर्म करके सुख, दुःख व मिश्रित फल के भागी हो रहे हैं। संस्कारवशात् बार-बार जन्म धारण कर रहे हैं। ये मुक्त होने के बाद भी उस 'ईश्वर' के तुल्य नहीं हो सकते क्योंकि वह ईश्वर तो कभी जन्म-मृत्यु के भवचक्र में फँसा ही नहीं। इसी पुरुष (जीव) को मोक्ष की आवश्यकता है, ईश्वर को नहीं।

ईश्वर सर्वज्ञ है। उसके ज्ञान के बराबर किसी का ज्ञान नहीं है। वह काल से बाधित न होने के कारण सभी पूर्व गुरुओं का भी गुरु है। ओम् ईश्वर का सर्वश्रेष्ठ नाम है। ओम् को धनुष, आत्मा को बाण और ब्रह्म को लक्ष्य बताने वाली मुण्डकोपनिषद् की ऋचा मोक्ष का मार्ग प्रशस्त कर रही है-

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।

अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्।। मुण्डकोपनिषद् 2/4

ओम् ब्रह्म है। ओम् ही सब कुछ है ओम् के द्वारा ही सम्पूर्ण सृष्टि के क्रियाकलाप हैं। ओम् ही भूत, वर्तमान और भविष्यत हैं। इस ओम् का ही जाप और अर्थ का चिन्तन करना चाहिए। इससे ही साक्षात्कार होता है तथा साधनामार्ग में आने वाले समस्त विघ्न दूर हो जाते हैं। योगदर्शन में कहा है-

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च। यो.सू. 1/29

ईश्वर प्रणिधान के द्वारा साधक की समस्त जिम्मेदारियाँ वह परमेश्वर खुद अपने ऊपर ले लेता है तथा शीघ्र समाधि लाभ करा देता है। प्रिय विद्यार्थियों इससे स्पष्ट होता है कि महर्षि पतंजलि ने ईश्वर को विशेष प्रकार का पुरुष कहा है जो दुःख, कर्म, विपाक आदि से अछूता रहता है। ईश्वर स्वभाव से पूर्ण और अनन्त है। उसकी शक्ति सीमित नहीं है। ईश्वर नित्य है। वह अनादि और अनन्त है। वह सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान और सर्वज्ञ है। वह त्रिगुणातीत है। ईश्वर जीवों से भिन्न है। जीव में अविद्या, राग, द्वेष आदि का निवास है। परन्तु ईश्वर इन सबों से रहित है। जीव कर्म-नियम के अधीन है, जबकि ईश्वर कर्म-नियम से स्वतन्त्र है। ईश्वर मुक्तात्मा से भिन्न है। मुक्तात्मा पहले बन्धन में रहते हैं, फिर बाद में मुक्त हो जाते है। इसके विपरीत ईश्वर नित्य मुक्त है।

ईश्वर एक है। यदि ईश्वर को अनेक माना जाय तो दो ही सम्भावनाएं हो सकती है। पहली सम्भावना यह है कि अनेक ईश्वर एक दूसरे को सीमित करते हैं जिसके फलस्वरूप ईश्वर का विचार खंडित हो जाता है। यदि ईश्वर को अनेक माना जाए तो दूसरी सम्भावना यह होगी कि जो ईश्वर एक से अधिक हैं, वे अनावश्यक होंगे जिसके फलस्वरूप अनीश्वरवाद का प्रादुर्भाव होगा। अतः योग को एकेश्वरवादीदर्शन कहा गया है।

जगत् का सृष्टिकर्ता ईश्वर ही है। इस विषय पर विचार करने पर निरीश्वरवादियों की उक्त मान्यता अविचारित रमणीय प्रतीत होती है। निरीश्वरवादियों के अनुसार पुरुष की सन्निधि मात्र से प्रकृति ही संसार की रचना करने में समर्थ है। किन्तु प्रश्न यह है कि जड़ प्रकृति संसार की रचना करने में स्वतः कैसे प्रवृत्त हो सकती है जैसे लोक में चेतन सारथी की प्रेरणा से ही रथ की गति सम्भव है, वैसे ही चेतन ईश्वर की प्रेरणा के बिना जड़ प्रकृति भी जगत्-रचना में प्रवृत्त नहीं हो सकती है। अतः प्रकृति के प्रेरक के रूप में सृष्टि के प्रति निमित्तकारण ईश्वर को अवश्य ही स्वीकार करना चाहिए।

अन्य प्राणियों का ज्ञान सातिशय है किन्तु ईश्वर का ज्ञान निरतिशय है। अर्थात् ईश्वर में ज्ञान अन्तिम उन्नति के रूप में विद्यमान है। प्राणियों में किसी का ज्ञान वर्तमान पदार्थविषय है, किसी का भूत और भविष्यद् विषयक है, किसी का ज्ञान त्रैकालिक है, किसी का एकविषयक है और किसी का ज्ञान अनेकविषय हैं, इत्यादि। यह ज्ञान वृद्धि को प्राप्त होता हुआ जहाँ निरतिशयरूप अन्तिम सीमा को प्राप्त होता है, वही सर्वज्ञ ईश्वर कहलाता है।

वह ईश्वर अनादि है क्योंकि उसके काल आदि की निश्चित प्राप्ति नहीं है। योग दर्शन में कहा है कि

'पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्। योगदर्शन 1/26

अर्थात् वह ईश्वर हमारे पूर्वजों का भी गुरु है क्योंकि वह काल के द्वारा अवच्छिन्न-सीमित न होने के कारण अनादि है। आशय यह है कि ब्रह्मा, कपिल, जनक, सनन्दन आदि तत्वदर्शियों गुरुओं ने यद्यपि आदिकाल में देहधारण कर मानवमात्र को आत्मज्ञान का उपदेश दिया, परन्तु वे सब देहधारण करने के कारण काल से सीमित रहे। कोई भी देह सदा नहीं रह सकता। वह अनित्य है, एक नियतकाल से सीमित है। किन्हीं जीवात्माओं द्वारा तत्वज्ञान का उपदेश देहधारण के

बिना सम्भव नहीं। अतः वे ब्रह्मा, कपिल आदि पहले गुरु काल से सीमित रहते है। परन्तु ईश्वर काल से कभी सीमित नहीं होता क्योंकि उपदेश के लिए उसे शरीर धारण करने की आवश्यकता नहीं होती।

9.3.3 ईश्वर के नाम, अंग तथा अव्यय- ईश्वर का कोई नाम या रूप नहीं होता, फिर भी उपासना की सुविधा के लिए उसका नाम और रूपों की कल्पना करनी पड़ती है। परमेश्वर के जितने भी नाम तथा रूपों की कल्पना की गई है, वह वस्तुतः उसके विशेषणों के आधार पर है। वास्तव में ईश्वर को कोई एक नाम नहीं दिया जा सकता। अतः उसकी विशेषताओं के आधार पर ही उसे विष्णु, शिव, कृष्ण, वासुदेव, शंकर आदि नाम से पुकारा जाता है। व्यासभाष्य में कहा गया है-

तस्य संज्ञादिविशेषप्रतिपत्तिरागमतः बोध्या। व्यासभाष्य 1/25

ईश्वर के कल्पित नाम व रूपों की कल्पना करना साधक की विवशता है। ईश्वर की उपलब्धि हो जाने के पश्चात् तो नाम और रूप स्वतः ही दूर हो जाते हैं। समाधि की सिद्धि होने पर इनकी कोई उपयोगिता नहीं रह जाती किन्तु जब तक समाधिलाभ नहीं होता तब तक आगमों ने ईश्वर के विभिन्न नाम रूपों की कल्पना का निर्देश किया है।

वायुपुराण में ईश्वर के विभिन्न नामों के अनुरूप उसके छः अंग और दस अवयवों का निर्देश किया गया है। यथा-

सर्वज्ञता तृप्तिरनादिबोधः, स्वतन्त्रता नित्यमलुप्तशक्तिः।

अनन्यशक्तिश्च विभोर्विधज्ञाः, षडाहुरंगानि महेश्वरस्य।। वायुपुराण 12/31

अर्थात् विद्वान् सुधीजनों ने ईश्वर के छः अंग बतलाये हैं- सर्वज्ञता, तृप्ति, अनादिज्ञान, स्वतन्त्रता, अलुप्त चेतनता तथा अनन्य शक्ति। इन्हीं छः अंगों से ईश्वर अंगी अर्थात् परिपूर्ण होता है।

इनके अतिरिक्त दस अव्यय हैं- ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, तप, सत्य, क्षमा, धृति, सृष्टृत्व, आत्मसम्बोध तथा अधिष्ठातृत्व।

ईश्वर का वाचक पद ओम् है- ईश्वरप्रणिधान से शीघ्र समाधिलाभ हो जाता है। ऐसा सूत्रकार महर्षि पतंजलि ने कहा है। वह ईश्वरप्रणिधान कैसे किया जाता है इस प्रश्न के समाधान के लिए कहते हैं कि ईश्वर के नाम का जप करने से ईश्वर भक्तों पर अनुग्रह करता है। ईश्वर का मुख्य वाचक नाम ओम् है-

तस्य वाचकः प्रणवः। योगदर्शन 1/27

ओंकार को प्रणव कहा जाता है। सूत्रकार ने ओंकार शब्द नहीं कहा, अपितु प्रणव कहा है। वस्तुतः प्रणव ओंकार का विशेषण है। 'प्र' उपसर्ग पूर्वक 'नु' धातु से प्रणव शब्द बना है।

क्योंकि ओम् शब्द के द्वारा परमेश्वर की स्तुति की जाती है, इसलिये ओम् को प्रणव कहा जाता है। ओम् भी परमात्मा का नाम नहीं है, वह तो विशेषण है। 'अवति इति ओम्' अर्थात् सबका रक्षक ओम् कहलाता है। श्रुति, स्मृति, पुराणादि में परमेश्वर का मुख्य वाचक ओम् ही है। अतः शीघ्र समाधिलाभ के लिए ओम्जप तथा ईश्वर भावना करनी चाहिए।

9.4 पुरूष (आत्मा)

योगदर्शन और सांख्यदर्शन में आत्मा के विषय में समान विचारों की झलक मिलती है। अतः सांख्य सम्मत आत्मतत्व विवेचना को योग ने भी स्वीकार किया है। सांख्य में आत्मा नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव युक्त है। योगभाष्य में भी कहा गया है-

''चितिशक्तिपरिणाममिन्यप्रति-संक्रमादर्शितविषया शुद्धा चानन्ता सत्वगुणात्मिका चेयम्'' योगसूत्रभाष्य 1/21

योग में ''तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्'' सूत्र में आत्मा के द्रष्ट्रत्व को प्रतिपादित किया गया है। क्योंकि द्रष्टा ही साक्षात्कर्ता होता है। योगदर्शन में आत्मा को कहीं द्रष्टा और कहीं पुरुष की संज्ञा दी गई है। अतएव पुरुष क्या है? यह प्रश्न उत्पन्न करके उक्त सूत्र में द्रष्टा शब्द से पुरुष को निर्दिष्ट किया है।

चिति शब्द का प्रयोग भी उसी आत्मा अर्थ में किया गया है। योगसूत्र में कहा है 'विशेषदर्शिन आत्मभावभावनानिवृत्तिः' अर्थात् भेद का साक्षत्कार करलेनेवाले योगी को चित्त में आत्मीयता की भावना समाप्त हो जाती है। यहाँ विशेष पद भेद का पर्याय है। जब योगी को समाधि द्वारा प्रकृति और पुरुष के भेद का साक्षात्कार हो जाता है, तब प्राकृत चित्त, देह आदि में आत्मभाव की भावना समाप्त हो जाती है।

इस प्रकार यह निष्कर्ष निकलता है कि योग में आत्मा लिए द्रष्टा और चिति शब्दों का सार्थक प्रयोग किया गया है और उस चित्त की वृत्तियों के निरोध के लिए अष्टांगयोग का निर्धारण, ईश्वरप्रणिधान, अभ्यास तथा वैराग्य आदि का निर्देश किया गया है। जिनकी विवेचना आगे की जाएगी।

पुरुष क्या है ? यह विचारणीय है। इस सम्बन्ध में विभिन्न आचार्यो ने भिन्न-भिन्न मान्यताएं दी हैं-

आचार्य शंकर-इनके मतानुसार जीव और ब्रह्म अभिन्न हैं-

जीवो ब्रह्मैव नापरः।

वह ब्रह्म की तरह विभु है। अन्तःकरण सहित अवस्था में वह जीवात्मा कहलाता है और जब ब्रह्म और जीव के अभेद का ज्ञान हो जाता है तो वह मुक्त हो जाता है।

आचार्य रामानुज- ये जीव को ब्रह्म का शरीर मानते हैं। यह अणु है। अल्पज्ञ, अल्पशक्तिमान्, भोक्ता है।

आचार्य निम्बार्क- ये जीव को अणु और प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न मानते हैं। इसी मत की पुष्टि सांख्य दर्शन के पुरुषबहुत्ववाद से भी होती है।

आचार्य मध्व- ये जीव और ब्रह्म में नित्य भेद मानते हैं। सेवक, अल्पज्ञ, परमात्मा के अधीन जीव हैं। यह अणु हैं- एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः मुण्ड. 3/1/9

आचार्य वल्लभ- अणु व ब्रह्म का अंश है। शरीर में व्यापक नहीं अपितु हृदय में रहता है-

'गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तम्' कठो. 2/1/6-7

महर्षि दयानन्द- महर्षि दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश के सातवें समुल्लास में कहा है कि जीवात्मा नित्य और अनादि है। ईश्वर और जीवात्मा दोनों नितान्त भिन्न हैं। यह कार्य करने में स्वतन्त्र व व्यवस्था में परतन्त्र है। यह नित्य व चेतन है। अणु है। अल्पज्ञ, कर्म का कर्ता व भोक्ता है।

पुरुष के विषय में सांख्य दर्शन का कथन है कि पुरुष अनेक हैं अतः पुरुषबहुत्ववाद की पुष्टि होती है। वास्तव में पुरुष को आत्मा कहा गया है। इसी आधार पर सांख्यशास्त्र में कहा गया है कि पुरुष अनेक हैं क्योंकि प्रतिदिन की दिनचर्या में कोई जन्म लेता है, कोई मृत्यु को प्राप्त होता है, कोई सोता है तो कोई जागता है आदि अनेक गतिविधियों के एक साथ प्रवृत्ति को देख कर अनुमान किया जा सकता है कि पुरुष बहुत अर्थात् अनेक हैं क्योंकि यदि पुरुष को केवल एक मान लिया जाए तो विसंगति होगी कि यदि एक सोता है तो सब सोएं। एक जन्म ले तो सभी जन्म ले, एक मृत्यु को प्राप्त होता है तो सभी मृत्यु को प्राप्त होवें, परन्तु ऐसा नहीं होता। अतः पुरुष बहुत्ववाद की सिद्धि होती है।

आत्मा के अस्तित्व के विषय में आस्तिक और नास्तिक दोनों ही दर्शन उदासीन हैं। अहं की अनुभूति सभी को होती है। ऐसी अनुभूति किसी को नहीं होती कि मैं नहीं हूँ। किन्तु आत्मा के अस्तित्व एवं स्वरूप-विषयक जितने भी मत प्रचलित हैं, उनका संकलन वेदान्तसार नामक ग्रन्थ में प्राप्त होता है। उनका भी संक्षिप्त अध्ययन करना अनिवार्य है-

चार्वाक सिद्धान्त के पोषक पुत्र को आत्मा कहते हैं और अपने मत की पुष्टि में 'आत्मा वै जायते पुत्रः' इस वाक्य को उद्धृत करते हैं। वे इसका हेतु देते हैं कि पुत्र का सुख-दुःख पिता को साक्षात् अनुभूत होता है। पुत्र के सुखी होने पर सुखी और दुःखी होने पर दुःखी पिता पुत्र को आत्मत्वेन ही स्वीकार करता है-

अति प्राड्डतस्तु 'आत्मा वै जायते पुत्रः'पुत्र आत्मेति वदति। वेदान्तसार पृ. 182

कुछ अन्य नास्तिक लोग अन्न से परिपुष्ट होने वाले देह को आत्मा कहते हैं 'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः' को उद्धृत करके कहते हैं कि जब घर में आग लग जाती है तो मनुष्य पुत्र, पत्नी आदि सभी को छोड़ कर निज देह को बचाने का प्रयास करता है। निजदेह सभी को प्रिय है। अतः देह ही आत्मा है-

चार्वाकस्तु 'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः' इत्यादिश्रुतेः प्रदीप्तगृहात्स्वपुत्रं परित्यज्यापि स्वस्य निर्गमदर्शनात् स्थूलोऽहं शरीरात्मेति वदति। वेदान्तसार पृ. 184

कुछ लोगों का मानना है कि इन्द्रियां ही आत्मा है। उनका तर्क है कि इन्द्रियों के अभाव में शरीर चल नहीं सकता। मैं काणा हूँ, बहरा हूँ इत्यादि अनुभूति इन्द्रियों को आत्मा सिद्ध करती है-

अपरश्चार्वाकः 'ते ह प्राणाः प्रजापतिं पितरमेत्य बुरयुः' इत्यादिश्रुतेः इन्द्रियाणामभावे.... अनुभवाच्चेन्द्रियाण्यात्मेति वदति। वेदान्तसार पृ. 187

दूसरे चार्वाक इन्द्रियों से ऊपर प्राणों को महत्व देते हुए कहते है कि प्राण के बिना इन्द्रियाँ भी असमर्थ हैं। जब तक प्राण रहते हैं, तभी तक इन्द्रियाँ देखना, सुनना आदि कार्य कर पाती हैं। प्राण के व्याकुल हो जाने पर इन्द्रियाँ भी व्याकुल हो जाती हैं। अतः प्राण ही आत्मा है।

अपरश्चार्वाकः 'अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमय' इत्यादिश्रुतेः प्राणाभावइन्द्रियादिचलनायोगादहमशनायावानहं पिपासावानित्याद्यनुभवाच्च प्राण आत्मेति वदति। वेदान्तरसार, पृ. 190

कुछ दार्शनिक कहते हैं कि आत्मा मन को ही कहना उचित है, क्योंकि 'अन्योन्तरात्मा मनोमयः' यह श्रुतिप्रमाण है। सुषुप्ति अवस्था में जब मन भी सो जाता है तो प्राणादि की गति भी रुक जाती है। मैं संकल्प करता हूँ, विकल्प करता हूँ, इस अनुभूति में जो संकल्प-विकल्प का कर्ता है, वही मन आत्मा है-

अन्यस्तु चार्वाकः 'अन्योऽन्तर आत्मा मनोमय' इत्यादिश्रुतेर्मनसि सुप्ते प्राणादेः.....

मन आत्मेति वदति। वेदान्तसार पृ. 192

प्रभाकर मीमांसक का मत है कि अज्ञान ही आत्मा है। उनका तर्क है कि सुषुप्ति में इन्द्रियाँ, प्राण, मन और विज्ञान सभी अज्ञान में लीन हो जाते हैं। जागने पर 'मैं सुखपूर्वक सोया, मैंने कुछ नहीं जाना' यह अनुभूति होती है। यह अनुभूति अज्ञान को आत्मा सिद्ध करती है-

प्राभाकर तार्किकी तु 'अन्योऽन्तर आत्माज्ञानमय' इत्यादिश्रुतेर्बुद्धयादीनामज्ञाने लय........ अनुभवाच्चाज्ञानमात्मेति वदति। वेदान्तसार, पृ. 195

भट्ट मीमांसक कहते हैं कि आनन्द ही आत्मा है। उनका कहना है कि सुषुप्ति में ज्ञान और अज्ञान दोनों ही रहते हैं। इसलिए अज्ञान से सुख की उत्पत्ति होती है तथा ज्ञान से उस सुख की अनुभूति होती है। अतः आनन्दस्वरूप आत्मा अज्ञान से उपहित चैतन्य का नाम है-

भाट्टस्तु 'प्रज्ञानधन एवानन्दमय' इत्यादिश्रुतेः........

अनुभवाच्चाज्ञानोपहितं चैतन्यमात्मेति वदति। वेदान्तसार पृ. 198

शून्यात्मवाद भी एक अहं सिद्धान्त है जिसके अनुसार शून्य तत्व को आत्मा कहा गया है। शून्य का अर्थ है- चतुष्कोटि, विनिर्मुक्त, अनिवर्चनीय तत्व शून्यवादी भी सुषुप्ति को दृष्टान्त के रूप में प्रस्तुत करते हैं। वे कहते हैं कि 'मैं आज नहीं था।' यह अनुभूति सुषुप्ति काल से जागने पर होती है। यह 'न होना' ही शून्य है। इसलिए शून्य ही आत्मा है।

9.5 प्रकृति

सांख्य शास्त्र के विविध कार्यों से उनके मूल कारण प्रकृति का अनुमान होता है। इस शास्त्र में 25 तत्वों की मान्यता प्राप्त होती है। जिनकी मूल प्रकृति है, जिसका विशेषणपद प्रधान भी है। उत्पन्न करने वाले को प्रकृति, उत्पन्न होने वाले को विकृति कहा जाता है। अतः प्रकृति सबको उत्पन्न करती है लेकिन किसी से उत्पन्न नहीं होती। महदादि (महत्, अहंकार तथा पंचतन्मात्राएं) ये सात प्रकृति से उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न भी करते है अतः इनको प्रकृतिविकृति दोनों माना जाता है। सोलह (पंच कर्मेन्द्रियां, पंच ज्ञानेन्द्रियां, पंच महाभूत तथा मन) का समूह केवल उत्पन्न होता है। पुरुष न तो किसी से उत्पन्न होता है, न किसी को उत्पन्न करता है।

इन पच्चीस तत्वों को प्रकृति, विकृति, प्रकृति-विकृति, तथा न प्रकृति न विकृति के भेद से चार भागों में बांटा जाता है।

मूलप्रकृति ही प्रधान है। क्योंकि वह प्रकृति के विकारभूत सातों पदार्थों की मूलभूत कारणरूप है, वह मूल भी है और प्रकृति भी है। अतः मूल प्रकृति कहा है। किसी अन्य से उत्पन्न नहीं होती, इसलिए प्रकृति किसी का विकार नहीं है।

प्रकृति को अव्यक्त भी कहा जाता है। वैसे तो अव्यक्त को मानने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए परन्तु किसी विद्यमान वस्तु की अनुपलब्धि के आठ कारण है-

1. अत्यन्त दूर होने से,

2. अत्यन्त समीप होने से,

3. इन्द्रियों के नष्ट हो जाने से,

4. मन की अस्थिरता से,

5. सूक्ष्म होने से,

6. किसी वस्तु का व्यवधान होने से,

7. किसी उत्कट द्वारा अभिभूत होने से,

8. अपने सदृश पदार्थ में मिल जाने से,

अतः उक्त हेतुओं से विद्यमान वस्तु की भी उपलब्धि नहीं होती। प्रकृति भी विद्यमान पदार्थ होते हुए अतिसूक्ष्म होने के कारण अनुपलब्ध है। परन्तु उसके स्थूल कार्यों को देख कर उसका अनुमान किया जाता है।

योगदर्शन सांख्य के सभी सिद्धान्तों को स्वीकार करता है। प्रकृति का स्वरूप उसकी विकृति के स्वरूप वाला भी है तथा उससे भिन्न भी है। अर्थात् यदि समानता के पक्ष में विचार किया जाए तो ज्ञात होता है कि सभी व्यक्त कार्य त्रिगुणात्मक हैं। उनमें सत्व, रज और तम पाये जाते हैं। ठीक उसी प्रकार प्रकृति में भी सत्व, रज तथा तम की उपस्थिति कही गई है। इसीलिए प्रकृति का लक्षण इस प्रकार कहा गया है-

'सत्वरजस्तमसाभ्यां साम्यावस्था प्रकृतिः'

दूसरा विशेषण अविवेकी है अर्थात् जिसका कोई विवेक नहीं होता। आशय यह है कि ये गुण हैं और यह अव्यक्त है। ऐसा पृथक् विवेचन नहीं किया जा सकता। जैसे- यह गाय है और यह घोड़ा है। जो व्यक्त है, वे ही गुण हैं, जो गुण हैं, वही व्यक्त हैं। इस प्रकार का भेद करने का विवेक प्रकृति में नहीं है, इसलिए इसे अविवेकी कहा जाता है।

तीसरा इस प्रकृति को विषय कहा गया है। विषय का अर्थ है सबके द्वारा उपभोग के योग्य, क्योंकि यह समस्त व्यक्तियों का विषयभूत है।

चौथा विशेषण प्रकृति का यह है कि वह सामान्य है। जैसे पैसे से कोई भी सुविधा सबको प्राप्त होकर सामान्य हो जाती है। ठीक उसी प्रकार यह भी सर्वसाधारण के लिए उपभोग्य है।

पाँचवा विशेषण प्रकृति का अचेतन है। कहने का तात्पर्य है कि प्रकृति जड़ है। सुख, दुःख और मोह को प्रकाशित नहीं कर सकती। प्रकृति प्रसवधर्मी है अर्थात् उत्पन्न करने के स्वभाववाली है, जैसे प्रकृति से बुद्धि, बुद्धि से अहंकार आदि की उत्पत्ति होती है, अहंकार से 11 इन्द्रियाँ और 5 तन्मात्राएँ उत्पन्न होती है। तन्मात्राओं से 5 महाभूत आकाशादि उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार प्रसवधर्मी पर्यन्त व्यक्त के धर्म कहे गये हैं, ऐसे ही इन धर्मों से भी है।

जब व्यक्त से विरुद्ध धर्मों के विषय में चिन्तन किया जाता है तो ज्ञात होता है कि अव्यक्त अर्थात् प्रकृति अहेतुमत्, नित्य, व्यापि, निष्क्रिय, एक, अनाश्रित, निरवयव तथा स्वतन्त्र है। अर्थात् व्यक्त हेतुमत् हैं, और प्रकृति से अन्यत्र कोई नहीं है जिससे उसकी उत्पत्ति मानी जाये, इसलिये प्रकृति अहेतुमत् है। व्यक्त उत्पत्तिमान होने से अनित्य हैं, किन्तु अव्यक्त प्रकृति अहेतुमत् होने से नित्य है। क्योंकि भूतादि की तरह वह किसी से उत्पन्न नहीं होती। व्यक्त अव्यापी हैं किन्तु अव्यक्त प्रकृति व्यापी है, क्योंकि वह सर्वगत है। व्यक्त सक्रिय है, क्रियाशील हैं, किन्तु अव्यक्त अक्रिय है क्योंकि वह सर्वगत होने से ही उसकी क्रियाशीलता की आवश्यकता नहीं है। तथा व्यक्त अनेक अर्थात् 23 है किन्तु अव्यक्त कारण होने से एक ही है। तीनों लोकों का कारणभूत प्रधान है। इसलिये वह एक है। व्यक्त आश्रित रहता है किन्तु अव्यक्त किसी के आश्रित नहीं रहता क्योंकि वह किसी का भी कार्य नहीं है। प्रधान से दूसरा कोई ऐसा है ही नहीं जिसका कार्य प्रधान को माना जा सके। तथा व्यक्त लिंग है किन्तु अव्यक्त अलिंग है। प्रलय काल में व्यक्तादि अपने कारणों में लीन हो जाते हैं, परन्तु प्रधान का लय नहीं होता, क्योंकि उसका कोई कारण नहीं है, इसलिए प्रधान अलि है। व्यक्त सावयव हैं तथा अव्यक्त प्रकृति निरवयव है -शब्द स्पर्श रूप, रस, गन्ध ये अवयव प्रधान में नहीं होते हैं। व्यक्त परतन्त्र होता है, किन्तु अव्यक्त स्वतन्त्र है किसीके अधीन नहीं रहता, स्वयं अपने में समर्थ होता है।

इस प्रकार के गुण, लक्षणों से युक्त प्रकृति, पुरुष के समक्ष अपने को ठीक उसी प्रकार प्रस्तुत करती है तथा निवृत्त हो जाती है जैसे कोई नर्तकी रंगमंच पर अपना नाच दिखाकर अपना कार्य समाप्त कर उस द्रष्टा के प्रति नृत्य से निवृत्त हो जाती है। प्रकृति भी पुरुष के लिए भोग उपलब्ध कराती रहती है। जब वह मोक्ष उपलब्ध करा देता है तो सदा के लिए निवृत्त होकर उसके लिए कृतकार्य होकर अपने मूल कारण में लीन हो जाती है। उसका प्रयोजन 'मोक्ष' प्रदान करना पूरा हो जाता है।

9.6 कैवल्य

भारतीय दर्शन की समस्त शाखाओं में दुःख निवृत्ति और आनन्दावाप्ति को मोक्ष कहा गया है। योगदर्शन में महर्षि पतंजलि ने इसी को स्वरूपावस्थान या कैवल्य कहा है। बौद्धों के मत में यही मोक्ष 'निर्वाण' पद से अभिहित किया जाता है। जैन इसे 'आर्हती दशा' कहते हैं। नैयायिकों ने 'अपवर्ग' व वैशेषिकों ने 'निःश्रेयस' कहा है। सांख्य 'सत्वपुरुषान्यताख्याति' या 'प्रकृतिवियोग' के नाम से कहते हैं। मीमांसक 'प्रपंचसम्बन्धविलय' कहते हैं तो वेदान्त में इसी का नाम 'ब्रह्मपदावाप्ति' है।

जन्मजन्मान्तरों के संस्कारों के फलस्वरूप सुख-दुःखादि का भोग करते हुए आत्मा को कष्ट की अनुभूति होती है। इसी कष्ट से मुक्ति प्राप्त करना उसका उद्देश्य है।

चार्वाक दर्शन ने मोक्ष की सत्ता और उपयोगिता को स्वीकार किया है। उनके अनुसार देह ही आत्मा है। अतः देह का विनाश ही मोक्ष है। यह मोक्ष शाश्वत है क्योंकि पुनर्जन्म की प्राप्ति नहीं होती। इसलिए उन्होंने कहा है-

यावज्जीवेत्सुखं जीवत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।

भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः।। सर्वदर्शनसंग्रह पृ. 24

सब कुछ वर्तमान है। प्रत्यक्ष ही प्रमाण है। भूत तथा भविष्यत् किसी भी पदार्थ की सत्ता नहीं है-

न स्वर्गो नापवर्गो वा नैवात्मा पारलौकिकः।

नैव वर्णाश्रमादीनां क्रियाश्च फलदायिकाः।। सर्वदर्शन संग्रह पृ. 24

बौद्धदार्शनिक त्रिविध दुःख स्वीकार करते हैं- दुःख-दुःखता, संस्कार-दुःखता व परिणाम-दुःखता। इन त्रिविध दुःखों से आत्यन्तिक मुक्ति ही मोक्ष या निर्वाण है। यह निर्वाण निषेधात्मक है, विध्यात्मक नहीं। जैसे दीपक का निर्वाण निषेधात्मक होता है। विशेषतः शून्यवादियों की यही मान्यता है-

सत्काम दृष्टि प्रभवानशेषान्, क्लेशांश्च दोषांश्च धिया विपश्यन्।

आत्मानमस्या विषयंच बुद्धवा, योगी करोत्यात्म निषेधमेव।।

माध्यमिका वृत्ति (चन्द्रकीर्ति) यह निर्वाण प्रहाण, प्राप्ति, उच्छेद, निषेध और उत्पत्ति से रहित माना गया है। क्योंकि अभावरूप है और सब कुछ क्षणिक है।

न्यायदर्शन में मोक्ष को अपवर्ग कहा गया है। यह अपवर्ग दुःखों का अत्यन्ताभावरूप है-

सा आत्यन्तिकी दुःखनिवृत्तिरपवर्गः- सर्वदर्शनसंग्रह पृ. 491

तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः- न्यायसूत्र 1/1/22

दुःखों का प्रधान कारण जन्म है। जन्म सकाम कर्मों में प्रवृत्ति से होता है। प्रवृत्ति दोषवशात् होती है और दोषों का कारण है मिथ्याज्ञान। प्रमाणादि षोडश पदार्थों के तत्त्वज्ञान से मिथ्याज्ञान की निवृत्ति होकर मोक्ष का अधिगम होता है। कहा गया है-

प्रमाणप्रमेय संशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभास-

छलजातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः। न्यायसूत्र 1/1/1

वैशेषिक दर्शन में भी कैवल्य का स्वरूप न्याय के समान ही माना गया है। दोनों ही समान तन्त्र कहे जाते हैं। यहाँ कैवल्य मोक्ष को परम पुरुषार्थ कहा गया है तथा उसकी शास्त्रीय संज्ञा 'निःश्रेयस' दी गई है-

दुःखात्यन्तोच्छेदापरपर्यायनिःश्रयेसरूपत्वेन परमपुरुषार्थत्वात्- सर्वदर्शनसंग्रह पृ. 447

यह भी दुःखाभाव रूप है। जैसे अग्नि ईंधन को जलाकर शान्त हो जाती है, कुछ भी शेष नहीं रहता। इसी प्रकार दुःखो का नाश हो जाना कैवल्य है। कैवल्य में सुख नहीं होता।

मीमांसा के अनुसार जीवात्मा के साथ जगत्प्रेम के सम्बन्ध के विलय को मोक्ष कहा जाता है। मीमांसक जीव और जगत् दोनों को नित्य मानते हैं। जगत् का प्रलय यहाँ अमान्य है। अतः जगत् का विलय तो हो नहीं सकता। केवल प्रपंच के साथ जीव के सम्बन्ध का लय होता है-

प्रपंचसम्बन्धविलयो मोक्षः -मीमांसादर्शन;शास्त्रदीपिका, पृ. 358

प्रपंच तीन प्रकार का होता है- शरीर, इन्द्रियाँ और विषय। शरीर भोगायतन, इन्द्रियाँ भोगसाधन और विषय भोग्य हैं। सुख-दुःख रूप जो अपरोक्षानुभूति है, वह भोग है, जिसका कर्ता पुरुष है। इस त्रिविध प्रपंच रूप बन्धन का सदा के लिए अवरुद्ध हो जाना मोक्ष है। नित्य और नैमित्तिक कर्मों के अनुष्ठान से प्रपंच विलय होता है।

आचार्य रामानुज ने भगवान् श्रीहरि के दासत्व की प्राप्ति को ही कैवल्य कहा है। कैवल्यावस्था में जीवात्मा भगवान् का किंकर बनकर वैकुण्ठ में भगवान् के चरणों में निवास करता है-

श्रीवैकुण्ठमुपेत्य नित्यमजड़ं तस्मिन् परब्रह्मणः।

सायुज्यं समवाप्य नन्दति समं तेनैवधन्यः पुमान्। लोकाचार्य

वह ब्रह्म के साथ मिलकर अभिन्न नहीं हो जाता। वह सदा ब्रह्म से पृथक् ही रहता है। मोक्ष दशा में विशेष आनन्द कैवल्य का फल है। जीव स्वरूप से नित्य है। ध्रुवानुस्मृति रूप भक्ति ही मोक्ष का साधन है।

रामानुजीय वैष्णव परम्परा में निम्बार्क का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनके मत में मुक्ति (कैवल्य) का अर्थ ब्रह्मलोक की प्राप्ति है। मुक्ति का एकमात्र साधन भक्ति है। भक्ति का अर्थ है- शरणागति या परा-प्रपत्ति। परा-प्रपत्ति में भगवान् की अनुकूलता का संकल्प लेना, प्रतिकूलता का वर्जन करना, 'भगवान ही रक्षा करेंगे' ऐसा विश्वास करना तथा ईश्वर के रक्षकत्व रूप महिमा का वर्णन किया जाता है। भगवान् भक्त के कार्पण्य-भाव से प्रसन्न होते हैं। प्रसन्न हुए भगवान् भक्त को स्वकीय धाम प्रदान करते हैं।

स्वामी दयानन्द दुःखों से मुक्त होने को कैवल्य कहते हैं जिसका दूसरा नाम मुक्ति भी है-

'मु´चन्ति पृथग्भवन्ति जनाः यस्यां सा मुक्तिः'

(सत्यार्थ प्रकाश नवम समुल्लास पृ. 161)

मुक्ति की यही सीधी-सी परिभाषा है। यह जीवनकाल में भी हो सकती है और मृत्यु काल के बाद भी। जैसे लोक में आदमी औषधि आदि का सेवन करके कुछ काल तक रोगों से मुक्त रहता है, वैसे ही उपासना, सत्कर्म आदि के अनुष्ठान से जन्म-मरण के चक्र का कुछ कालपर्यन्त निरुद्ध हो जाना मोक्ष है। वे मुक्ति का एक सीमित काल मानते हैं, आत्यन्तिक मुक्ति नहीं। आत्यन्तिक शब्द का वे अत्यधिक अर्थ करते हैं (सत्यार्थ प्रकाश नवम समुल्लास पृ. 164)। महर्षि का कथन है

कि अल्पज्ञ और अल्पशक्तियुक्त जीवात्मा का इतना सामर्थ्य नहीं हो सकता कि वह त्रिविध दुःखों से शाश्वत मुक्ति प्राप्त कर सके।

उनके अनुसार ''परमेश्वर की आज्ञा पालने, अधर्म, अविद्या, कुसंग, कुसंस्कार, बुरे व्यसनों से अलग रहने और सत्य भाषण, परोपकार, विद्या, पक्षपातरहित न्याय, धर्म की वृद्धि करने, पूर्वोक्त प्रकार से परमेश्वर की स्तुति, पुरुषार्थ और उपासना अर्थात् योगाभ्यास करने, विद्या पढ़ने, पढ़ाने और धर्म से पुरुषार्थ कर ज्ञान की उन्नति करने, सबसे उत्तम साधनों को करने और जो कुछ करें, वह सब पक्षपातरहित न्याय धर्मानुसार ही करें। इत्यादि साधनों से मुक्ति और इनसे विपरीत ईश्वराज्ञा भंग करने आदि काम से बन्ध होता है। (सत्यार्थ प्रकाश नवम समुल्लास पृ. 164) । इसके अतिरिक्त कैवल्य की प्रप्ति के लिए साधनचतुष्ट्य, अनुबन्ध चतुष्ट्य, श्रवणचतुष्टय, मैत्री करुणा आदि भावनाचतुष्टय को मुक्ति का साधन स्वीकार किया है।

सांख्य के मतानुसार प्रकृति और पुरुष का संयोग ही बन्धन है, जिसे संसार कहा जाता है। तत्त्वज्ञान से इन दोनों का वियुक्त हो जाना ही मोक्ष है-

पुंप्रकृत्योर्वियोगोऽपि योग इत्यभिधीयते।

पुरुष और प्रकृति का संयोग अंधे व लंगड़े के समान है। इस मत के अनुसार बन्धन व मोक्ष प्रकृति का ही होता है, पुरुष में तो उसका उपचार ही होता है। प्रकृति कार्य महत्व के आठ धर्म हैं- धर्माधर्म, ज्ञानाज्ञान, वैराग्यावैराग्य तथा ऐश्वर्य नैश्वर्य। इनमें से सात रूपों से तो प्रकृति पुरुष को बाँधती और एक रूप से अर्थात् ज्ञान से छोड़ती है-

रूपैः सप्तभिरेव तु बध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृति:।

सैव च पुरुषार्थं प्रति विमोचयत्येकरूपेण।। सां.का.63

योगदर्शन के अनुसार आत्मा का स्वरूप में अवस्थान ही कैवल्य कहलाता है तथा मोक्ष की शास्त्रीय संज्ञा ही कैवल्य है। मोक्षावस्था में जीवात्मा निजस्वरूप में अवस्थित होता है, यह स्वरूपावस्थान ही कैवल्य है-

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्-योगसूत्र 1/3

शान्त, घोर तथा मूढ़धर्मों से रहित निर्विषय चैतन्यमात्र ही पुरुष का स्वरूप है। जैसे जपाकुसुम के हट जाने से स्फटिक अपने स्वच्छ शुद्ध स्वरूप में अवस्थित होता है, वैसे ही वृत्ति के हट जाने पर वृत्ति के प्रतिबिम्ब से रहित पुरुष अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाता है।

प्रकृति और चित्त त्रिगुणात्मक हैं। त्रिगुणात्मक प्रकृति के दो ही प्रयोजन हैं- पुरुष के लिए भोग व अपवर्ग देना। जब दोनों प्रयोजन पूर्ण हो जाते हैं, तो वह निवृत्त हो जाती है। त्रिगुणात्मक होने से शान्त, घोर तथा मूढरूप है। उसके साथ पुरुष को तादात्म्य का अभिमान होने से पुरुष में भी औपाधिक शान्त, घोर और मूढरूप धर्म भासने लगते हैं। जब वृत्तिसहित चित्त अपने कारणरूप प्रकृति में लीन हो जाता है तो पुरुष में जो शान्त, घोरादि धर्म भासते थे, वे नहीं भासते। पुरुष का यह स्वरूप में अवस्थित होना ही कैवल्य की दशा कहलाती है। तत्वज्ञान चित्तवृत्तिनिरोध रूप योग से साध्य है। यह योग अभ्यास और वैराग्य रूप है। क्रियायोग, अष्टांगयोग और ईश्वर-प्रणिधानरूप भक्तियोग भी कैवल्य प्राप्ति के अन्य साधन हैं।

बन्धन और मोक्ष- योगदर्शन के अनुसार प्रकृति और पुरुष का संयोग ही बन्धन है और इन दोनों का वियोग ही मोक्ष है। प्रकृति और पुरुष का संयोग अनादि है। यह संयोग अविद्या के कारण होता है। जब विवेकज्ञान से अविद्या का अभाव हो जाता है। तो प्रकृति और पुरुष के संयोग का भी अभाव हो जाता है। यही मोक्ष या कैवल्य है।

प्रकृति के दो प्रयोजन हैं- भोग और मोक्ष। बुद्धि से प्रकृति सर्वप्रथम पुरुष के लिये भोग प्रदान करती है और पुनः मोक्ष प्रदान करती है। जब उसके ये दोनों प्रयोजन सिद्ध हो जाते हैं तो प्रकृति पुरुष का साथ छोड़ देती है। चित्त भी अपने कारणरूप प्रकृति में लीन हो जाता है। सूत्रकार महर्षि पत´जलि ने कहा है-

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तेरिति।।

योगसूत्र -4/34

अर्थात् बुद्धि आदि के रूप में परिणत गुणों का जब भोग और अपवर्गरूप प्रयोजन सिद्ध हो जाता है तो वे अपने-अपने कारणों में लीन हो जाते हैं। यह प्रकृति का कैवल्य है। चितिशक्ति पुरुष वृत्तिसारूप्य की निवृत्ति होने पर स्वरूप में अवस्थित हो जाता है। यह पुरुष का कैवल्य है।

इस प्रकार कैवल्य दो प्रकार का हुआ- गुणों का प्रकृति में लय होना और पुरुष का स्वरूप में अवस्थित होना। प्रथम मोक्ष प्रकृति को होता है और दूसरा मोक्ष पुरुष को होता है। प्रकृति पुरुषार्थ से मुक्त हो गयी और पुरुष गुणों से मुक्त हुआ। चितिशक्तिरूप पुरुष का सर्वदा उसी प्रकार से अवस्थित रहना ही पुरुष का कैवल्य है।

कैवल्य के भेद- कैवल्य या मुक्ति दो प्रकार की है- जीवन्मुक्ति तथा विदेहमुक्ति या आत्यन्तिक मुक्ति। जीवनकाल में तत्वज्ञान होने पर पुरुष का जो स्वरूपावस्थान होता है, वह जीवन्मुक्ति है और मृत्यु के पश्चात देहपात होने पर विदेहमुक्ति होती है। तत्वज्ञान होने पर भी आयु के शेष रहते हुए शरीर संस्कारवश चलता रहता है वह काल जीवन्मुक्तिकाल कहलाता है। उस काल में योगी जो कर्म करता है, वे कर्म न तो शुक्ल होते हैं और न कृष्ण। क्योंकि उन कर्मों से संस्कार नहीं बनते। संस्कार उन्हीं कर्मों से बनते हैं जिनके साथ मन का सम्बन्ध होता है। योगी के कर्म मन से नहीं किये जाते, वे तो पूर्व अभ्यास के कारण स्वचालित यन्त्र के समान स्वयमेव होते रहते हैं। जैसे कुम्भकार का चक्र दण्ड हटा लेने पर भी पूर्वगति के संस्कार के कारण कुछ देर तक चलता रहता है। गति का संस्कार समाप्त होते ही चक्र स्वयमेव रुक जाता है। जीवन्मुक्त पुरुष की भी यही दशा है। वह भी पूर्व संस्कारवश देह से जीवित रहता है। आयु समाप्त होते ही वह विदेहमुक्त हो जाता है। और वह फिर जन्ममरण के चक्ररूप इस संसार में फिर नहीं आता। यही स्वरूप ईश्वरकृष्ण ने सांख्यकारिका में किया है-

सम्यग्ज्ञानाधिगमाद् धर्मादीनामकारणप्राप्तौ।

तिष्ठति संस्कारवशात् चक्रभ्रमिवद्धृतशरीरः।।

प्राप्ते शरीरभेदे चरितार्थत्वात् प्रधानविनिवृत्तौ।

ऐकान्तिकमात्यन्तिकमुभयं कैवल्यमाप्नोति।।

सांख्यकारिका 67,68

9.7 कैवल्य प्राप्ति के उपाय

मोक्ष के अधिगम हेतु उपनिषदों में ज्ञान, कर्म और उपासना तीनों साधनों के साथ-साथ योग को स्वीकार किया गया है। इन्हीं में से वेदान्तियों ने मात्र ज्ञान को, वैष्णवाचार्यों ने भक्ति को, मीमांसकों ने कर्म को तथा योगियों ने योग का चयन किया है।

उपनिषदों में केवल ज्ञान या केवल कर्म को मोक्ष के साधन के रूप में स्वीकार नहीं माना है, इसके अनेक प्रमाण उपनिषदों में प्राप्त होते हैं जैसे-

अन्धंतमः प्रविशन्ति .... ईशोपनिषद – 9

प्लवा ह्येते .... मुण्डकोपनिषद 1/2/7

अविद्यायामन्तरे .... मुण्डकोपनिषद 1/2/8

अविद्यायां बहुधा .... मुण्डकोपनिषद 1/2/9

न कर्म लिप्यते नरे ....ईशोपनिषद 2

परीक्ष्य लोकान् .... मुण्डकोपनिषद 1/2/12

कर्मानुष्ठान द्वारा मृत्यु को पार करके ज्ञानानुष्ठान द्वारा मोक्ष की प्राप्ति मानी गई है। प्रणवोपासना व तप को भी साधन रूप में स्वीकार किया है। अन्यत्र शरणागति रूप भक्ति को मोक्षोपाय स्वीकार किया गया है। इस प्रकार ज्ञान, कर्म और भक्ति को कैवल्य का साधन स्वीकार किया गया है। केवल ज्ञान अथवा केवल कर्म अथवा उपासना ही इसके लिए पर्याप्त नहीं हैं।

योगतत्त्व को मोक्षोपाय स्वीकार करके उपनिषदों में यहाँ तक कहा है कि योगाग्निमय शरीर वाले साधक को जन्म, मृत्यु और जरा नहीं सताते-

न तस्य रोगो न जरा न मृत्यु प्राप्तस्य यौगाग्निमयं शरीरम्-

श्वेताश्वतरोपनिषद् 2/12

अतः योग द्वारा अमरत्व प्राप्ति सम्भव है। योग की अन्तिम अवस्था समाधि है। इसके उपरान्त साधक अविद्यादि पंचक्लेशों से छूटकर संस्कारों को दग्धबीज कर देता है। जिससे संस्कार शेष नहीं रहते और जन्म-आयु-रूपी फल प्रदान करने में असमर्थ हो जाते हैं। इस प्रकार योग साधना द्वारा साधक जन्म-मरण के बन्धन से छूटकर आनन्द प्राप्त कर लेता है। योगाभ्यासी साधक अष्टांगयोग, क्रियायोग, अभ्यास और वैराग्य के द्वारा उस कैवल्यावस्था को प्राप्त कर लेता है, जहाँ जाकर उसे परमसुख की उपलब्धि होती है। उसे कल्पान्त तक मोक्षानन्द भोग का सामर्थ्य प्राप्त हो जाता है।

असम्प्रज्ञातसमाधि मे प्राप्त सत्वपुरुषान्यताख्यातिरूप विवेकज्ञान ही कैवल्य का एकमात्र उपाय है। यद्यपि अविद्या की निवृत्ति ही मोक्ष का हेतु है किन्तु अविद्या की निवृत्ति विवेकज्ञान द्वारा होती है। अतः विवेकज्ञान ही कैवल्य का उपाय है। सूत्रकार ने कहा है-

विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः।।योगसूत्र 2/26

अर्थात् मिथ्याज्ञानरूप विप्लव से रहित विवेकख्याति ही अविद्या की निवृत्ति का तथा कैवल्य का हेतु है। शास्त्रजन्यज्ञान से अविद्या की निवृत्ति नहीं होती क्योंकि वह परोक्षज्ञान है। विवेकख्याति अपरोक्षज्ञान है। इसी से अविद्या की निवृत्ति होती है। इस अवस्था को उपनिषद् में इस प्रकार कहा गया है-

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां वह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।

अजो ह्येको जुषाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्त भोगामजोऽन्यः।।

अर्थात् सत्व, रज और तम रूप त्रिगुणात्मक प्रकृति अजन्मा है। यह त्रिगुणात्मक प्रजाओं को उत्पन्न करती है। उस प्रकृति को एक अजन्मा बद्धपुरुष तो भोगता हुआ अनुताप करता है और दूसरा अजन्मा मुक्तपुरुष भोग ओर मोक्ष देकर कृतकार्य हुई प्रकृति को छोड़ देता है।

अभ्यास प्रश्न –

1. बहुविकल्पीय प्रश्न

क. किसने कहा है कि ब्रहम, सगुण व विशेष है।
अ. आचार्य मध्व ब. आचार्य शंकर
स. आचार्य रामानुज द. आचार्य निम्बार्क

ख. महर्षि दयानन्द ने कौन सी पुस्तक लिखी।
क. राजयोग ब. सत्यार्थ प्रकाश
स. भक्ति योग साधना द. योग सूत्र

ग. कैवल्य की प्राप्ति के साधन कौन से है।

अ. अष्टांग योग ब. अभ्यास वैराग्य

स. क्रियायोग द. उपरोक्त तीनों

2. सत्य और असत्य बताइये।

क. ईश्वर की कृपा से समाधि की प्राप्ति होती है।

ख. महर्षि दयानन्द ने ईश्वर को सगुण व निर्गुण माना है।

ग. चार्वाक दर्शन ईश्वर की सत्ता पर विश्वास करता है।

घ. ईश्वर क्लेश, कर्म, विपाक तथा आशय से परे है।

ड. योग दर्शन में आत्मा को ईश्वर की संज्ञा दी है।

च. सांख्य दर्शन में 25 तत्वों को मान्यता दी है।

छ. न्यायदर्शन में मोक्ष को अपवर्ग कहा है।

ज. योगदर्शन के अनुसार प्रकृति और पुरूष का संयोग ही बन्धन है –

9.8 सारांश

कैवल्य की प्राप्ति करना योगदर्शन का प्रमुख उद्देश्य है। भारतीय दर्शन की समस्त शाखाओं में दु:ख की निवृत्ति और आनन्द की प्राप्ति को मोक्ष कहा है। नाम अनेक है परन्तु उद्देश्य एक ही है। पतंजलि ने कहा कि जब चित्त की समस्त वृत्तियों का निरोध हो जाता है तब दृष्टा अर्थात आत्मा अपने स्वरूप में स्थित हो जाती है, यही अवस्था कैवल्य है। कैवल्य की प्राप्ति के लिए योग साधना तो है ही पर बिना ईश्वर की कृपा के यह सम्भव नहीं है। ईश्वर जो समस्त जगत को केवल इच्छा मात्र से ही उत्पन्न कर दे या नष्ट कर दे वह चाहे तो निश्चित ही सहज रूप से कैवल्य की प्राप्ति हो सकती है।

9.9 शब्दावली

विनिष्ट - नष्ट करना, नाश करना

निराकार – जिसका कोई आकार नही

पंच क्लेश – अविद्या अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश

काल – समय

प्रणव – ॐ, ओंकार

9.10 त्रिगुण – सत, रज, तम

अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. क. अ ख. ब ग. द

2. क. सत्य ख. सत्य ग. असत्य घ. सत्य

ड. असत्य च. सत्य छ. सत्य ज. सत्य

9.11 सन्दर्भ ग्रन्थ -

1. महर्षि पतंजलि – योग दर्शन (2007) गीताप्रेस गोरखपुर

2. महर्षि पतंजलि – पातंजल योग प्रदीप (2008) गीतप्रेस गोरखपुर

3. स्वामी विज्ञानानन्द सरस्वती – पातंजल योग दर्शन (1999) योग निकेतन ट्रस्ट, मुनि की रेति ऋषिकेश

9.12 निबंधात्मक प्रश्न

1. योग सूत्र के अनुसार ईश्वर के स्वरूप की विस्तारपूर्वक व्याख्या करें।

2. पुरूष व प्रकृति का समीक्षात्मक अध्ययन कीजिए।

3. कैवल्य के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कैवल्य प्राप्ति के उपायो की विस्तारपूर्वक चर्चा करें।